RASA MIMAMSA

(An Analytical Paper on Shringara Rasa & its Realization in Sangita, Vadya, Nritya & Sahitya)

By

VIKRAM BHARDWAJ

(Sanskrit Scholar)

Introduction

The concept of Rasa and its interpretation is an old one in Indian thought. Though it is Natya Shastra from which the realization of Rasa in a Natya in its entirety emanates but its seed are to be found sown going all the way back to Vedas. And How so? Be it in the form of Shringara Rasa Dialogue that takes place between Lopamudra and her husband sage Agastaya, or be it in the form of relization of other varied Rasa's or their direct or indirect forms, we have it's roots in the Vedas. But it is only with the text of Natya Shastra, that we have a consolidated and well organized presentation of various art forms - Sangeet, Drama, Dance, Vadya etc, and the relization of Rasa in these art forms also. Though Sangeet Sidhanta of Bharata has also been propounded by Bharata Muni, in his Natya Shastra treatise, but its only done in a short form, and not so elaborately. But Natya in its complete terminology, stage management, coordination among all, Rasa relization etc, have been touched upon in an extensive way in Natya Shastra. It is with this very text only all scholarly works from various scholars thereafter came forth, in the form of explanations of the concepts within the purview of Natya Shastra. So Natya Shastra has been the source of later literature on dramaturgy in India.

Although we have many texts like Sangeet Ratnakar by Shrarangdeva, or Sangitaraja by Maharana Kumbha etc, but the root source of most of these texts remains Natya Sastra of Bharata Muni only. Here it must be noted that many of the authors of aforementioned texts, were great practioner themselves and hence many of them have put forth not just additions but has also presented their own interpretations, agreements, disagreements with Natya Shastra, wherever they have felt it so. We have texts like Rasakaumudi of Srikantha, as examples of such texts.

Few of the western scholars like Alain Danielou from France, did scholarly work on Indian music also, and worte texts like, Ragas of North Indian Classical Music, and Sacred Music, its Origins, Northern Indian Music; Vol. One and Two, and Introduction to the Study of Musical scales etc. But its owing to the commentaries like Abhinavabharati by Abhinavagupta on

Natyasastra of Bharatamuni, expositions like Sahityadarpana by Sri Viswanatha Kaviraja and Kavya Prakasha by Mammata, etc, that we are today able to understand most of our old traditional dance, drama, music, theatre etc., their concepts and their depth also. Off late scholars and practioners like Pandit Omkarnath Thakur, Jaidev Singh, Kumari Prem Lata Sharma, Kumari Subhdra Choudhary etc. have also done very scholarly work, and hence a great service to the field of Indian dramaturgy.

Dr. Padma Subrahmanyam, leading figure in Indian classical dance Bharatanatyam, work on Natyasastra its Karanas, her leature demonstrations, etc are works of exceptional scholarship and of a lifetime of dedication to research, teaching and practice our traditional dance form and making it all accessible to modern, present day practioners and scholars alike in a very lucid and easy to practice forms.

Present paper titled "Rasa Mimamsa" is primarily a collation and analysis of textual materials on Indian music, dance, drama, instruments etc., and the realization of Shringara Rasa in each of these forms. It is the need of the hour to have such a compilation in one place, all organized themewise with the sole imperative of realizing the Rasa within. Rasa's are 9 in number including Shanta Rasa, but the present paper focuses only on the Shringar Rasa and its realization in music, dance, drama and vadya's, i.e, musical instruments etc.; among the total 9 Rasas in all.

The author wishes to take into scope a study of other Rasas as well but only in due course of time. All available traditional sources, books, papers, texts, dictionaries, dance, music manuals etc, have been referred here by the author.

It is to be noted that this paper is only a compilation from varied sources, with all sources duly quoted within. Still for putting things in this presentation, interpreting them briefly wherever possible and referring textual material; if any discperancy remains, its only due to my own limitations and not at all due to the root source, thereof.

I sincerely hope that such a compilation will be of some help to scholars, practioners, teachers, researchers of Indian music, dance, drama alike. Needless

to say that all errors if any, all limitations if any, in this paper are all mine, and whatever utility one views in it are all due to the credit of the original masters quoted within. Not just at the end but in the beginning too, I bow my head with reverence to Goddess Saraswati, who instilled in me Iccha-Gyan-Kriya Sakti to work on this presentation. I bow to Lord Rudra who blesses me and make every thing possible for me, getting, it all done through me. I bow to Lord Ganesha for his blessings and for overseeing the compilation of this work uninhedered. I bow to my Gurus for their eternal blessings on me. I bow to my ancestors and parents for their blessing on me always, in all my endeavours. I am thankful to all my friends and family who always support me and stand by me in all walks of my life not just the creative.

I also thank my desktop operator team for their invaluable work, without them I would never have been able to put this presentation together.

Its with full earnestness and blessings of all that I move forward in my life, despite my various limitations. I am always thankful to all forever.

Vikram Bhardwaj

(Sanskrit Scholar)

ऊँ गणपतये नमः

रस मीमांसा

भारतवर्ष में रस की परम्परा अति प्राचीन है। वेदों में रस निरुपण की अभिव्यक्ति यत्र तत्र मंत्रों में निरुपित है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में कहा है कि ब्रह्मा जी ने नाट्य के लिए 'पाठ्य' ऋग्वेद से, 'गीत' सामवेद से, 'अभिनय' (नृत्यसहित) यजुर्वेद से तथा 'रस' अथर्ववेद से लिये। तब से लेकर पिछली 20 शताब्दी पर्यन्त रस परिपाक का माधुर्य सतत प्रवाहित रहा है। सम्पूर्ण शास्त्रीय वाङ्मय–वेद, इतिहास, पुराण, उननिषद्, भक्ति काव्य शास्त्र इत्यादि इस रस तत्त्व में सदा ओतप्रोत रहे हैं।

प्रस्तुत आलेख ना्टयशास्त्र के परिप्रेक्ष में रस–निपरूण की एक अल्प प्रस्तुति मात्र है। भारत के नाट्यशास्त्र में तौर्य्यत्रिक (गीत, वाद्य, नृत्य) के आधार पर ही सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र निरूपित है। इस त्रोयत्रिक में रस–निरूण अपने आप में अति गहन विषय है। यह आलेख इस त्रिक के साथ–साथ भरत के नाट्यशास्त्र के आसपास के कुछ अन्य मतों पर भी दृष्टिपात करने का दुस्साहस मात्र ही है। अति प्राचीन आचार्यों, ऋषिगण, गुरुजन, शास्त्रवेत्ता, कलावंत और कला मर्मज्ञों को सादर, श्रद्धापूर्वक, नमन करते हुए अपने पूर्वजों, गुरुजनों और माता–पिता के आशीर्वाद स्वरूप रूद्र–अर्चना में आत्मस्वरूप की सायुज्यता से प्राप्त परमानंद की अनुभूति ही है और उससे कुछ अधिक नहीं, कुछ नया नहीं है।

परिशुद्ध रस तत्त्व के कथन के संदर्भ में भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में कहे हुए कथन–'काव्यार्थान् भावयन्ति' इति (प्र. 7)। तत्काव्यर्थो रसः। अर्थात् 'काव्य के अर्थों को प्रकाशित करते हैं। वही काव्यार्थ रस है। इस कथन की व्याख्या में अभिनवभारती में अभिनवगुप्त कहते हैं। (द्रष्टव्य, कारिका 31, अभिनवभारती = अभिनव., पृ. 470, हिन्दी अनुवाद) कि जैसे कि ब्राह्मण ग्रन्थों में आये अर्थवाद–वाक्य, जैसे (वनस्पति आदि) 'यज्ञ में बैठे' इत्यादि में (सामर्थ्यादि) से लक्षित

अधिकारी के लक्षण कहे गए हैं। (उस अधिकारी को ऐसे वाक्यों को सुनकर) पहिले–पहल होनेवाली, अत्यन्त प्रशंसित, सामान्य प्रतीति के बाद (उस वाक्य में) ग्रहण किए गए (भूत) काल की उपेक्षा करके (उसी प्रकार मैं भी यज्ञ में) बैठूं', इत्यादि रूप (अर्थवाद वाक्यों में पढ़े हुए अर्थों से, अधिकारी में) संक्रान्त होनेवाली (मीमांसाक मत में) भावना, विधि, नियोग, आदि शब्दों के द्वारा व्यवहृत होनेवाली, अधिक ही प्रतीति होती है। इसी प्रकार काव्यात्मक वाक्य से भी (काव्य के) अधिकारी सहृदय व्यक्ति को (सामान्य वाक्यार्थ–ज्ञानमात्र से) अधिक ही (रसात्मक व्यंग्यार्थ की) प्रतीति होती है। यहाँ निर्मल प्रतिभानशाली हृदय वाला (सहृदय) पुरुष (काव्यार्थ ज्ञान का) 'अधिकारी' है। और उसको (कालिदास के शकुन्तला नाटक में आए हुए) 'ग्रीवाभंगाभिरामं', इत्यादि श्लोक वाक्यों से वाक्यार्थ की प्रतीति के बाद उस वाक्य में गृहीत कालादि के विभाग की उपेक्षा (साधारणीकरण) करने वाली, मानसी एवं साक्षात्कारात्मिका प्रतीति उत्पन्न होती है। यह प्रतीति ही रसात्मक व्यंग्यार्थ की प्रतीति है, इस प्रतीति में सामाजिका का आत्मा न अत्यन्त उपेक्षित होता है, और न विशेष रूप से उल्लिखित होता है। इसी प्रकार अन्य रस भी होते हैं। अनादि संस्कारों द्वारा चित्रित चित्त वाले सारे सामाजिकों की एक जैसी वासना होने के कारण (सबको एक जैसी ही रस प्रतीति होती है) और वह विघ्नों से सर्वथा रहित प्रतीति 'चमत्कार' कहलाती है। और उससे उत्पन्न होने वाले, कम्प और रोमांचोदय आदि (अनुभावात्मक) विकार भी 'चमत्कार' कहलाते हैं।

... अत एव सर्वसामाजिकानामेकधनतयैव प्रतिपत्तिः सतुरां रसपरिपोषाय। सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसांवासनासंवादात्। सा चाविघ्ना संवित् चमत्कारः। तज्जोऽपि कम्पपुलकोल्लुकसनादिर्विकारश्चमत्कारः।

यहाँ 'चमत्कार' शब्द रसानुभूति–जन्य पुलकादि के लिए प्रयोग किया गया है। अर्थात् रसानुभूति तथा उससे जन्य पुलकादि दोनों के लिए 'चमत्कार' शब्द का प्रयोग होता है। और वह साक्षात्कारात्मक मानस अध्यवसाय, या संकल्प, अथवा

स्मृति, इस रूप से प्रतीत हो सकता है। (अर्थात् उसके लिए स्मृति, संकल्प, मानस, अध्यवसाय आदि शब्दों का भी प्रयोग होता है।)

जैसा कि निम्न श्लोक में कालिदास ने कहा है–

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि।। (अभिज्ञानशाकुन्तल 5)

अर्थात् – 'सुन्दर विषयों को देख कर और मधुर शब्दों को सुनकर जो सुखी व्यक्ति भी (मानों) किसी प्रिय जन से उसका वियोग हो गया हो, इस प्रकार कभी व्याकुल हो उठता है सो वासना रूप से मन में स्थित, किन्तु समझ में न आने वाले। पूर्वजन्म के परिचयों को 'स्मरण' करता मालूम होता है।' इत्यादि। यह कालिदास के अ.शा. नाटक का श्लोक है। यहाँ शकुन्तला का प्रत्याख्यान कर देने वाले दुष्यन्त ने जब गाने की मधुर ध्वनि आती हुई सुनी तो वे व्याकुल हो उठे। उसी प्रसंग का यह श्लोक है। इसमें 'स्मरति' पद जो आया है वह स्मरण के लिए नहीं आया अपितु साक्षात्कारात्मक मानस व्यापार रूप 'चमत्कार' के लिए आया है। अभिनव आगे कहते हैं कि – यहाँ 'स्मरति' इस पद से जो 'स्मृति' दिखलाई है वह न्याय में प्रसिद्ध (ज्ञातविषयँ ज्ञानँ स्मृतिः) स्मृति नहीं है। क्योंकि पहले से इस अर्थ का अनुभव नहीं हुआ है। अपितु प्रतिभान जिसका दूसरा नाम है इस प्रकार की साक्षात्कारात्मक स्वभाव रूप ही यह (स्मृति) है। इसीलिए यह आस्वादस्वरूप ऐसी प्रतीति अवश्य होती है जिसमें (निर्विघ्न रूप से) रतिका ही भान होता है। एवं बाह्य विषय सामग्री (विभावानुभावादि) भी वैसी ही (देशकालादि से आनालिङ्गित) रहे, तब भी प्रत्येक दशा में (सर्वथा) आस्वादात्मक एवं निर्विघ्न प्रतीति से ग्राह्य 'भाव' ही रस है।

... सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः। तत्र विघ्नापसारका विभावप्रभृतयः।

तथा हि लोके सकलविघ्नविनिर्मुक्ता संवित्तिरेव चमत्कार–निर्वेश–रसन–आस्वादन–भोग–समापत्ति–लय–विश्रान्त्यादिशब्दैरभिधीयते।

अर्थात् उसमें आने वाले विघ्नों के अपसारक विभावादि होते हैं। जैसे कि लोक में होने वाली समस्त विघ्नों से रहित वह प्रतीति ही चमत्कार, निर्वेश, रसन, आस्वादन, भोग, समापत्ति, लय, विश्रान्ति आदि शब्दों से कही जाती है।

इस प्रकार अभिनवगुप्त पाद ने यहाँ निर्विघ्नप्रतीति से ग्राह्य भाव को ही 'रस' माना है। रसानुभूति का सबसे प्रधान साधन नाट्य ही है। इस संदर्भ में आगे अभिनवभारती में अभिनवगुप्त पाद यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि, नाट्य ऐसे लोगों के लिए भी रसास्वाद में सहायक होता है जिनको सहृदय नहीं कहा जा सकता है।

यद्यपि रसानुभूति का सबसे प्रधान साधन नाट्य ही है, किन्तु सहृदयों को प्रबन्धकाव्यों तथा मुक्तककाव्यों से भी रस की अनुभूति हो सकती है। परन्तु नाट्य उन सहृदयों के अन्तःकरण को और अधिक निर्मल बना देता है। किन्तु जो सहृदय नहीं है, इसलिए प्रबन्धकाव्य या मुक्तक–काव्यों के द्वारा रसास्वाद नहीं कर सकते हैं, उनको भी नाट्य के द्वारा रसास्वाद होता है। जिस प्रकार चन्द्रमा की किरणें सामान्य पदार्थों पर पड़ कर उनको प्रकाशित करती है और यदि दर्पण आदि जैसे भास्वर पदार्थों पर पड़ती हैं तो उनकी भास्वरता को और भी अधिक बढ़ा देती है। इसी प्रकार जो सहृदय पुरुष रसास्वाद के लिए नाट्य की अपेक्षा नहीं रखते हैं उसके बिना प्रबन्धकाव्य तथा मुक्तक काव्यों के द्वारा भी रसास्वादन कर सकते हैं। उनको यदि नाट्य का सहारा मिल जाता है तो उससे उनकी सहृदयता एवं रसास्वादन शक्ति और भी तीव्र हो जाती है। और जिनमें स्वभावतः सहृदयता नहीं है उनको नाट्य के द्वारा उसकी प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार सहृदय तथा अहृदय दोनों के लिए नाट्य रसास्वाद में सहायक होता है यह यहाँ अभिनवगुप्त पाद ने कहा है।

नाट्य में नट–व्यापार के अतिरिक्त गीत, वाद्य, नृत्य, गणिकादि सभी का समावेश माना जाता है। इसलिए नटव्यापार के समान गीत, वाद्य, नृत्य गणिकादिका

प्रयोग भी सहृदयता का सम्पादक होता है। किन्तु नाट्य की अपेक्षा गीत, वाद्यादिका प्रयोग बहुत अधिक होता है। बहुत से लोग गीत वाद्य आदि के व्यसनी होने पर भी ऐसे देखे जाते हैं जिनको सहृदय नहीं कहा जा सकता है। काव्य के रसका आस्वाद करने की क्षमता उनमें नहीं होती है। ऐसे लोगों के लिए भी नाट्य रसास्वाद में सहायक होता है। (पृ. 463, अभिनवभारती, षष्ठोध्याय, हिन्दी)

'साधरणीकरण–सिद्धांत'– विभावों द्वारा रस निष्पत्ति

मम्मटाचार्य काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास में अभिनवगुप्तपाद के साधारणीकरण सिद्धान्त की विवेचना इस प्रकार करते हैं–

अभिनवगुप्ताचार्य का कथन है कि लोक में प्रमदा के कटाक्ष इत्यादि से जो सहृदय व्यक्ति यह निश्चित अनुमान कर लेते हैं कि उसके हृदय में व्यक्तिविशेष के प्रति रति है, उन्हीं को काव्य में रस का आस्वाद होता है।

काव्य प्रकाश में कहा गया है कि लोक में जो प्रमदा इत्यादि लौकिक कारण होते हैं, वे काव्य और नाट्य में विभावन इत्यादि अलौकिक (काव्यगत, नाट्यगत) व्यापारों से युक्त हो जाने के कारण विभाव इत्यादि कहलाने लगते हैं और लौकिक कारणत्व का परित्याग कर देते हैं। 'ये विभाव मेरे हैं–न मेरे हैं, न शत्रु के हैं–न तटस्थ व्यक्ति के हैं।' इन लौकिक सम्बन्ध विशेषों के स्वीकार या परिहार के अनिर्णय के काण वे विभाव सामान्यतया कामिनी इत्यादि रूपों में रह जाते हैं। इन साधारणीकृत विभावों के द्वारा, सामाजिकों व वासनात्मक रूप से स्थित रत्यादि स्थायी भावों की अभिव्यक्ति होती है। साधारण (व्यक्तिविशेश के सम्बन्ध से हीन) उपाय के बल से वे विभाव उस समय सामाजिकों की परिमित (सीमित) स्थिति को 'विगलित' कर देते हैं औन उन सामाजिकों में एक ऐसी अपरिमिति चितवृत्ति का उदय हो जाता है, जिसमें अन्य वेद्य विषयों के साथ उन सामाजिकों का कोई सम्पर्क नहीं रहता। फलतः समस्त सहृदयों के संवाद (एक स्थान पर देखी हुई वसतु के, अन्य स्थान में, वैसे ही दर्शन) के पात्र साधारण्य के द्वारा सहृदयों को रस का आस्वाद होता है।

वह रस सामाजिकों से, उनके अपने आकार के समान, अभिन्न होता है, आस्वाद्यमानता ही उसका प्राण है। सहृदयों को रसास्वाद उसी प्रकार होता है जिस प्रकार पानक–रस (इलायची, मिर्च, शर्करा, कर्पूर, खटाई इत्यादि को मिलाकर बनाये हुए पेय पदार्थ के स्वाद) का होता है। वह रस सर्वत्र परिस्फुरित होता हुआ सा, हृदय में प्रविष्ट होता हुआ–सा, प्रत्यङ्ग को (अमृत के समान) स्पर्श करता हुआ सा, अन्य यसमस्त ज्ञेय पदार्थों का तिरोधान करता हुआ सा, ब्रह्मास्वाद का अनुभव कराता हुआ–सा और लौकिक सामग्रीजन्य आस्वाद की अपेक्षा विलक्षण एवं चमत्कारपूर्ण होता है। वह रस उत्पाद्य (कार्य) नहीं होता, क्योंकि कारण के विनाश से तो कार्य का विनाश हो जाता हे, परन्तु सीता आदि विभावों के वस्तुतः न होने पर भी सहृदय सामाजिकों को रसास्वाद होता है। वह रस 'ज्ञाप्य' भी नहीं होता, क्योंकि ज्ञापन तो पहले से सिद्ध वस्तु का होता है, रस पहले से सिद्ध नहीं होता, अपितु विभाव आदि के द्वारा व्यञ्जित होकर आस्वाद्य होता है।

चर्वणा की उत्पत्ति को ही व्यवहार में रसोत्पत्ति कह दिया जाता है क्योंकि रस में विभाव आदि अलौकिक पदार्थ भी रहते हैं, इसीलिए वह रस लोकातीत स्व–संवेदन (ज्ञान) का विषय होता है, अतः उसे ज्ञेय भी कह दिया जाय। रसग्राहक ज्ञान निर्विकल्पक नहीं होता क्योंकि उसमें विभाव आदि सम्बन्ध प्रधान होता है, वह स्वसंवेदन ज्ञान सविकल्पक भी नहीं, क्योंकि अलौकिकानन्दमय रस के आस्वाद की अवस्था में अन्य पदार्थों का ज्ञान नहीं होता। फलतः इन दोनों ज्ञानों की अपेक्षा वह विलक्षण भी है और उभयात्मक भी, अतः उसकी अलौकिकता सिद्ध होती है।

काव्यप्रकाश में विवेचित उपरोक्त अभिनवगुप्तपाद के 'साधारणीकरण–सिद्धान्त का सारांश यह है कि साधरणीकरण द्वारा कवि–निर्मित पात्र व्यक्ति–विशेष न रहकर सामान्य प्राणिमात्र बन जाता है, वह देशकाल की सीमा में बद्ध न रहकर सार्वदेशिक बन जाता है। अर्थात् वे भाव जो काव्यगत नायक–नायिका में व्यक्तिगत संबंध के कारण होते हैं, नाटक अथवा काव्य–पठन से सहृदय पाठक में

साधारणीकृत हो जाते हैं। उनमें ममत्व तथा परत्व की भावना निकल जाती है। राम या सीता के प्रति जो रति भाव है, वह सहृदय पाठक के लिए शुद्ध सात्त्विक रति भाव बन जाता है। उस भाव की अनुभूति सभी सहृदयों में उसी रूप में होगी। अभिनवगुप्तपाद के 'साधारणीकरण–सिद्धान्त' के विवेचन में सहृदय पर अधिक बल है।

इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्तपाद के यहाँ स्थायी भाव संस्कार रूप में सामाजिक के हृदय में रहता है और उसका परिणत रस भी सामाजिक के भीतर है। फलतः अभिनवगुप्त के यहाँ रत्यादि का साधारणीकरण सामाजिक के भीतर सामाजिक की व्यक्तिगत रागेद्वेषमयी सीमाओं से ऊपर सात्विक अभिव्यक्ति के रूप में होता है। अभिनवगुप्तपाद के मतानुसार साधारणीकरण न केवल विभाव, अनुभाव, संचारी का होता है अपितु स्थायी और प्रमाता का भी होता है। (पृ. 221, ध्वनि–विवेचन, पंचम अध्याय, काव्यप्रदीप (टीका काव्यप्रकाश); पंचम अध्याय – विमर्श, डॉ. ज्योत्स्ना मोहन, प्रथम संस्करण 1989, नाग प्रकाशन)। तथा उभयाभाव स्वरूप का (अर्थात् निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनों से भिन्न उस रस का) उभयात्मकत्व (अर्थात् सविकल्पकत्व और निर्विकल्पकत्व) भी पहले के समान लोकोत्तरताको ही बोधित करता है, विरोध को नहीं) यही अभिनवगुप्तापादाचार्य का मत है।

रस एवं संगीत मीमाँसा

साहित्य–दर्पण ग्रन्थ में तृतीयः परिच्छेद की तृतीया कारिका में आचार्य विश्वनाथ जी कहते हैं–

लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।

स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः।।3।।

उपरोक्त कारिका की व्याख्या करते हुए आचार्य कहते हैं कि–''रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते'' इत्युक्तप्रकारो ब्राह्ममेयविमुखतापादकः कश्चनान्तरो धर्मः सत्त्वम्। तस्योद्रेको रजस्तमसी अभिभूय आर्विभावः।

अर्थात्– 'रजोगुण और तमोगुण से असंस्पृष्ट अन्तःकरण को सत्त्व कहते हैं'' इस प्राचीन आचार्यों की उक्ति के अनुसार बाहरी विषयों से चित्तवृत्तियों को हटानेवाला कोई अन्तःकरण का धर्म 'सत्त्व' कहाता है उसका रजस्/रजोगुण एवं तमोगुण को दबाकर प्रकाशित होना 'उद्रेक' कहलाता है। और भी आचार्य ने इसी ग्रन्थ में कहा है कि;

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।

वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।।2।।

लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।

स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः।।3।।

अर्थात्– सत्त्व के उद्रेक के कारण अखण्ड, स्वयंप्रकाश, आनन्दस्वरूप चेतना 'रस' है।

अन्य पदार्थों का ज्ञान उस चेतना के समय नहीं होता। वह चेतना या अनुभूति ब्रह्मास्वाद–सहोदर है। अलौकिक चमत्कार, अर्थात् रजोगुण एवं तमोगुण के दब जाने के परिणामस्वरूप हो जानेवाला चित्त का विस्तार, इसका प्राण हे। कुछ प्राक्तन पुण्यशाली सहृदय सामाजिक उसी प्रकार उस रस का अनुभव करते हैं, जिस प्रकार वे अपने आपसे अभिन्न अपने आकार का अनुभव करते हैं।

इसी संदर्भ में अभिनवगुप्तपाद अभिनवभारती के (6 अध्याय, पृ. 505 हिन्दी, पृ. 292, रामकृष्ण कवि, वॉल्यूम 1, 1926) में कहते हैं कि – तत्र ये स्वभावतो निर्मलमुकुरहृदयास्त एव संसारोचितक्रोध–मोहाभिलाषपरवशमनसो न भवन्ति। तेषां तथाविधदशरूपकाकर्णनसमये साधारणरसनात्मकचर्वणाग्राह्यो रसञ्चयो नाट्यलक्षणः स्फुट एव। ये त्वतथाभूतास्तेषां प्रत्यक्षोचिततथाविधचर्वणालाभाय। नटादिप्रक्रिया, स्वगतक्रोधशोकादि– सङ्कटहृदयग्रन्थिभञ्जनाय गीतादिप्रक्रिया च मुनिना विरचिता।

अर्थात्– उन (सुनने समझने वालों) में जो लोग स्वभाव से ही दर्पण के समान निर्मल हृदय वाले होते हैं वे ही (नाटक आदि को देख या सुन कर) अपने

मन को, सांसारिक (साधारण) पुरुषों के समान क्रोध, मोह, अभिलाष आदि के परवश नहीं होने देते। उनको उस प्रकार से दशरूपकों (रूपक के दस भेदों) के श्रवण (अथवा पढ़ने) के समय भी (अर्थात् नाटक को देखे बिना केवल पढ़ने अथवा सुनने से) असाधारण/साधारण रसनात्मक चर्वणा से ग्राह्य नाट्य रूप रस, की प्रतीति स्पष्ट ही होती है। और जो उस प्रकार (निर्मल हृदय वाले या सहृदय) नहीं हैं उनको प्रत्यक्ष, साक्षात्कारात्मक चर्वणा की प्राप्ति के लिए ही नट आदि की प्रक्रिया, और (दूसरों के रत्यादि व्यापारों को देख कर) अपने भीतर उत्पन्न होने वाले क्रोध, शोक आदि के साङ्कर्य से जन्य हृदय की ग्रन्थियों (का भंजन करने के लिए) के नाश करने के लिए गान आदि की (गीत आदि, वाद्य, नृत्य) प्रक्रिया का निर्माण (की प्रक्रिया) भरतमुनि ने किया है (भरतमुनि ने विरचित की है।)

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि 'रस' एक विशेष चेतना है, जो रजोगुण एवं तमोगुण के डुब जाने पर होती है। मनुष्य उस चेतना के क्षणों में रजोगुण एवं तमोगुण से उत्पन्न व्यक्तिगत चिन्ता, क्रोध, शोक इत्यादि से मुक्ति पा लेता है। गीत अर्थात् स्वरसन्निवेश भी रजोगुण एवं तमोगुण से उत्पन्न व्यक्तिगत हर्ष, शोक, इत्यादि हृदयग्रन्थियों का भञ्जन करने अर्थात् रजोगुण एवं तमोगुण को दबाकर सत्त्व का उद्रेक करने में समर्थ हैं। सत्त्व के उद्रेक के कारण अखण्ड, स्वयंप्रकाश, आनन्दस्वरूप चेतना 'रस' है।

स्वर–सन्निवेश से रसपरिपाक की प्रक्रिया

गीत की सृष्टि करते समय दूसरों को सुनाने एवं आनन्दित करने की दृष्टि से गायक या वादक जिन भावों की अभिव्यक्ति करता है, वे वास्तविक भावों का अभिनय ही होते हैं। फलतः स्वरों द्वारा भावों का अभिनय करते समय कलाकार की स्थिति अभिनेता से भिन्न नहीं होती। गायक सार्थक शब्दों का आश्रय लिये बिना ही स्वरसंवलित, शुष्काक्षरों से अथवा आलाप द्वारा भावाभिव्यक्ति करता है, उसकी कण्ठध्वनि अनुकूल 'काकु' से युक्त होती है और उसकी मुद्राएँ भावानुकूल होती

जाती हैं, परन्तु वह अभिनेता के समान पात्रविशेष के वेष इत्यादि से युक्त नहीं होता।

गायक स्वरसन्निवेश के द्वारा जिन भावों की अभिव्यक्ति करता है, वे 'साधारण्य' एवं 'प्राणिमात्र–हृदयसंवाद' के कारण 'सावधान' श्रोताओं की, रजस्तमोनिर्मित रागद्वेषरूप ग्रन्थियों को विगलित करके उनके हृदय में उस चेतना का अनुभव करा देते हैं, जिसे 'रस' कहा जाता है। स्वरसन्निवेश की इसी शक्ति के कारण हरिण–जैसे प्राणी में भी उस लौकिक भय का विगलन हो जाता है, जो लौकिक स्थिति में उसे लुब्धक से चौकन्ना रखता है। फलतः स्वरसन्निवेश के प्रभाव से सहृदय हरिण सहृदयता का अभिनय मात्र करनेवाले कलाकार लुब्धक की हृदयहीनता का ग्रास बन जाता है।

गान–क्रिया में स्थायी, उसके संवादी एवं सञ्चारी स्वर नाट्य की रस–प्रक्रिया में सीता आदि आलम्बन विभाव, पुष्पवाटिका इत्यादि उद्दीपन विभाव, आश्रय की चेष्टा आदि अनुभाव और निर्वेद, उत्सुकता इत्यादि संचारी भावों के संयोग से रस–निष्पत्ति होती है। स्वर–सन्निवेश के द्वारा रस–प्रक्रिया में स्थायी भाव का आलम्बन 'अंश स्वर' होता है, जिसकी संज्ञा 'स्थायी स्वर' होती है। 'स्थायी स्वर' का संवादी स्वर 'उद्दीपन विभाव' का कार्य करता है, प्रयुज्यमान 'अनुवादी स्वर' अनुभाव का कार्य करते हैं और 'स्थायी स्वर' को उभारते रहते हैं एवं 'सञ्चारी स्वर' सञ्चारी भावों के प्रकाशक होते हैं।

अन्ततः यह कहा जा सकता है – स्थायी स्वर पर आलम्बित, उसके संवादी स्वर द्वारा उद्दीप्त, अनुभावी स्वरों द्वारा अनुभावित और सञ्चारी स्वरों द्वारा परिपोषित, सहृदयों की वह चेतनाविशेष 'रस' है, जिसकी अनुभूति के समय रजस्तमोगुण – जनित उनकी रागद्वेषादि ग्रन्थियाँ विगलित हो जाती हैं।

स्थायी स्वर, संवादी स्वर, अनुवादी स्वर एवं सञ्चारी स्वर ये चारों ही परिभाषाएँ नाट्यशास्त्र में आयी हैं। नाट्यशास्त्र में स्वर–सन्निवेश के द्वारा

स्वतन्त्र–रूपेण रस–परिपाक पर पृथक् विचार नहीं किया गया है, और श्रव्य काव्य अथवा मुक्तक काव्य में रस–परिपाक पर भी विचार नहीं किया गया है। जिस प्रकार बाह्य प्रकृति के साहचर्य में आकर सहृदय की हृदय–ग्रन्थियां विगलित हो जाती है, उसी प्रकार नाद–सौन्दर्य उसके हृदय को विगलित कर देता है। ऐसी स्थिति में रस–परिपाक के लिए किसी कथा या घटना की आवश्यकता नहीं होती।

स्थायी स्वरों का रसों में विनियोग

स्थायी स्वर	रस	स्थायी भाव
षड्ज	वीर, अद्भुत, रौद्र	उत्साह, विस्मय, क्रोध
ऋषभ	वीर, अद्भुत, रौद्र	उत्साह, विस्मय, क्रोध
गान्धार	करूण	शोक
मध्यम	शृङ्गार, हास्य	रति, हास
पञ्चम	शृङ्गार, हास्य	रति, हास
धैवत	वीभत्स, भयानक	भय, जुगुप्सा
निषाद	करूण	शोक

जब तक स्वर 'स्थायी' नहीं होता, तब तक वह 'भाव' का प्रकाशक होता है, रस का नहीं उस अवस्था में उसके द्वारा अभिव्यक्त भाव 'सञ्चारी' होता है, स्थायी भाव नहीं। उस समय वह स्वरविशेष 'स्थायी स्वर' पर आलम्बित स्थायी भाव का परिपोषण करता है। संगीतज्ञों का अनुभव यह सिद्ध करता है कि जिन रागों में मध्यम स्थायी स्वर होता है, वे संयोग शृंगार और जिनमें पंचम अंशस्वर होता है, वे विप्रलम्भ (वियोग) शृङ्गार के व्यञ्जक होते हैं। ओर अन्तरगान्धार एवं काकली निषाद भी शोकव्यञ्जक होते हैं, ये भरतसँप्रदाय में स्थायी नहीं होते।

गीत और रस

रञ्जक स्वर–सन्दर्भ गीत कहलाता है। गीत कण्ठ, तन्त्री या सुषिर से अभिव्यक्त हो सकता है। ये तीनों जब मिल जाते हैं, तब स्वर्ण, गन्ध और कोमलता

का मिश्रण सा हो जाता है, परन्तु निरपेक्ष रहकर भी ये तीनों साधन पृथक्–पृथक् रूप में भी 'गीत' की ही अवतारणा करते हैं। भगवान वेदव्यास ने भगवान् कृष्ण के वेणु–वादन को 'वेणु–गीत' कहा है।

प्राचीन आचार्यों ने गीत में व्यञ्जना शक्ति मानी है, इसीलिए वे गीत से रस–व्यञ्जना के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। आनन्दवर्धन तथा उनके विरोधी भी गीत–शब्दों में रस–व्यञ्जना की शक्ति मानते हैं और कहते हैं की गीत के शब्द अवाचक होने पर भी रस–व्यञ्जक होते हैं। ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धन कहते हैं; ... तथा हि गीतादिशब्देभ्योऽपि रसाभिव्यक्तिरस्ति। न च तेषामन्तरा वाच्यपरामर्शः। (ध्वन्यालोक कारिका 33, वृत्ति, तृतीय उद्योतः, पृ. 1001) एवम् आनन्दवर्धन आगे कहते हैं; तथा ही गीतध्वनीनामपि व्यञ्जकत्वमस्तीति रसादिविषयम्। न च तेषां वाचकत्वं लक्षणा वा कथञ्चिल्लक्ष्यते। शब्दादन्यत्रापि विषये व्यञ्जकत्वस्य दर्शनाद् वाचकत्वादिशब्द–धर्मप्रकारत्वमयुक्तं वक्तुम्। (ध्वन्यालोके, कारिका 33, तृतीय उद्योतः, पृ. 1059)

आचार्य आनन्दवर्धन का कथन है कि जिन नील, मधुर इत्यादि वस्तुओं का इन्द्रियजन्य ज्ञान सभी को होता है, भिन्न–मति व्यक्ति भी उन वस्तुओं के विषय में मतभेद के शिकार नहीं होते। जिन वस्तु के नील रूप का निर्बाध ज्ञान हो रहा हो, उसके विषय में कोई भी नहीं कहेगा कि वह वस्तु पीली है, नीली नहीं। उसी प्रकार वाचक शब्दों, अवाचक गीतध्वनियों एवं अशब्द चेष्टाओं (मुद्राओं) की सर्वानुभवसिद्ध व्यञ्जकता को भला कौन अस्वीकृत कर सकता है? यहाँ आनन्दवर्धन कहते हैं कि; न हि नीलमधुरादिष्वशेषलोकेन्द्रियगोचरे बाधारहिते तत्त्वे परस्परं विप्रतिपन्ना दृश्यन्ते। न हि बाधारहितं नीलं नीलमिति ब्रुवन्नपरेण प्रतिषिध्यते नैतन्नीलं पीतमेतदिति। तथैव व्यञ्जकत्वं वाचकानां शब्दानामवाचकानां च गीतध्वनीनामशब्दरूपाणां च चेष्टादीनां यत्सर्वेषामनुभवसिद्धमेव तत्केनापह्नूयेते। (ध्वन्यालोक कारिका 33, तृतीय उद्योतः)। रसकौमुदीकार श्रीकण्ठ भी काव्य, गीत एवं नाट्य को निरपेक्ष रूप में अर्थात्

पृथक्–पृथक् रस का उद्गम स्थान मानते हैं। श्रीकण्ठ कहते हैं– 'नाट्ये गीते च काव्ये त्रिषु वसति रसशुद्धबुद्धस्वभावः।' (भरतकोशः, श्रीमानवल्लि रामकृष्ण कवि विरचित तिरुपति 1951, पृ. 529)

भरतमुनि ने भी गीत को नाट्य की शय्या कहा है। गीत के द्वारा 'असह्रदय' व्यक्तियों के ह्रदय में पड़ी हुई राग–द्वेष की ग्रन्थियाँ भी घुल जाती हैं, उनका ह्रदय भी तरल हो जाता है और वे भी सह्रदयों के समान ही रसास्वाद करने लगते हैं।

गीत–गोविन्द काव्य में जयदेव जी के रस–परिपाक को महाराणा कुम्भ गीत–गोविन्द पर अपनी टीका रसिकप्रिया में इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं– अत्र काव्ये श्रृङ्गाररसप्रधान्यात्तमेघास्रऽप्युयोऽयुद्दीपनभावा उक्ता भवन्ति। राधाद्याः आलम्बनविभावाः। भीरूरित्यस्यानुभावः। हर्षावेगशङ्कौत्सुक्यव्रीडाचपलतादयो व्यभिचारिणः। इत्थं कार्यकारणसहकारिमी रतिस्थायिभावः सकलरससम्राट सप्रपञ्चः संभोगाख्योऽभिलाषविरहेर्ष्यासूयालक्षणो विप्रलम्भः श्रृङ्गारः साङ्गोपाङ्गः समुन्नमीलितो भवति। तदुक्तम्–'कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि तु। रत्योदः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाटयकाव्ययोः।। विभावा अनुभावाश्च कथ्यन्ते व्यभिचारिणः। व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः'।। (द्रः काव्यप्रकाशे 4 उल्लासे)

तथा चाभाणि भरतेन–'विभावानुभावव्यभिचारिसँयोगाद्रसनिष्पत्तिः इति।

एवमेतेन पथा श्रीजयदेवेन कविना रसमुख्ये स्थिरीकृते तदाशयमबुद्धवा कैश्चिद्व्याख्यातँ तत्तावत्र विचक्षणपरीक्षाक्षममीक्षामहे तथाहि। (गीतगोविन्दकाव्यम् टीका, पृ. 4, सर्ग 1, रसिकप्रिया टीका–महाराणा कुम्भ, रसमञ्जरी व्याख्या सहित)

प्रत्येक प्रबन्ध कौन से राग में गाया जायेगा इसका विधान भी गीत–गोविन्द की रसिकप्रिया टीका में महाराणा कुम्भ ने अति सुन्दर रूप से समझाया है। उदाहरणार्थ– वसन्तरागयतितालाभ्याँ गीयते– नामक चतुर्दश प्रबन्ध को देखिये। (पृ. 100, गोतगोविन्दकाव्यम्, सर्ग : 7, रसिकप्रिया टीका)

वसन्तरागयतितालाभ्याँ गीयते। प्र. 14, के आठ पद इस प्रकार हैं–

स्मरसमरोचितविरचितवेशा।

गलितकुसुमदरविलुलितेकेशा।।1।।

कापि मधुरिपुणा विलसति युवतिरधिकगुणा।।ध्रुवम्।।

हरिपरिरम्भणवलितविकारा।

कुचकलशोपरितरलितहारा।। कापि. ।।2।।

विचलदलकललिताननचन्द्रा।

तदधरपानरभसकृततत्तन्द्रा।। कापि.।। 3।।

चञ्चलकुण्डलदलितकपोला।

मुखरितरसनजघनगतिलोला।। कापि.।।4।।

दयितविलोकितलज्जितहसिता।

बहुविधकूजितरतिरसरसिता।।कापि.।।5।।

विपुलपुलकपृथुवेपुथभङ्का।

श्वसितनिमीलितविकसदनङ्का।।कापि.।।6।।

श्रमजलकणभरसुभगशरीरा।

परिपतितोरसि रतिरणधीरा।।कापि.।।7।।

श्रीजयदेवभणितहरिरमितम्।

कलिकलुषँ जनयतु परिशमितम्।।कापि.।।8।।

महाराणा कुम्भ कहते हैं – श्रीति। इदं जयदेवभणितं विपरीतरताभि (योग) क्रीडितँ कलिकलुषं परिशमितं जनयत्विति शान्तिँ नयतु।।8।। तथाच सङ्गीतराजे 'श्रीरागो यत्र रागः स्यात्तालस्तु द्रुतमण्ठकः। वर्णनं वासुदेवस्य रतिस्तद्व्यत्यये स्त्रियाः। पदेभ्यः पाटसन्तानं स्वरास्तेनास्तथैव च। प्रयोगश्च भवेद्यत्र स प्रबन्धवरः स्मृतः।। हरिरमितचम्पकवर्णेभ्यः शेखराभिधः'।। इति हरिरमितचम्पकशेखरनामा चतुर्दशः प्रबन्धः।। (पृ. 100–103, सर्ग 7, रसिकप्रिया टीका –रसमञ्जरी व्याख्या सहित)

उपरोक्त हरिरमितचम्पकशेखर नामक चतुर्दश प्रबन्ध में महाराणा कुम्भ ने श्री राग की द्रुतमण्ठक ताल में श्रीवासुदेवजी की रति क्रीडा की अति रमणीय गेय संगीतमय राग में प्रस्तुति की है। जिसकी सुन्दरता की गीत, छन्द, काव्य, राग और ताल में पिरोयी हुई माला से सम्भोग स्थायी भाव लिये हुए शृङ्गार रस का आनन्दमय आस्वादन सामाजिकों केलिये निष्पन्न होता है।

अथ श्रीरागः ध्यानम् (द्रष्टव्य रसकौमुदी, द्वितीयोऽध्यायः, पृ. 27)

कन्दर्पमूर्तिस्तरुणोऽरुणाम्बरः कर्णावतंसीकृतनव्यपल्लवः।

षड्जादिसेव्यः क्षितिपालसुन्दरः श्रीरागनामा नितरां विभासते।।113।।

अभिनवभारती के षष्ठ अध्याय में आचार्य अभिनव ने कारिका 15 के गद्य में स्पष्ट रूप से नाट्य में रसस्वरूप का प्रतिपादन किया है। यहाँ नाट्यादि में जो रसानुभूति होती है उसकी विशेष प्रक्रिया दिखलाते हुए सबसे पहले उन्होंने 'साधारणीकरण' का निर्देश किया है। (द्र. अभिनवभारती, पृ. 429, डॉ. नगेन्द्र) साधारणीकरण का अभिप्राय नाटक के विभाव आदि में स्वकीय, परकीय भावना का विलोप है। काव्य के महिमा एवं नट के अभिनय के प्रभाव से विभावादि में स्वकीय, परकीय की भावना का विलोप हो जाता है। इसी को 'साधारणीकरण' कहते हैं। यदि यह साधारणीकरण का अलौकिक व्यापार न हो तो दूसरे की रति को देखने ओर अपनी रति के प्रदर्शन दोनों के ही लज्जादिजनक होने से रसानुभूति नहीं हो सकती है। यह रसानुभूति अनुमान, आगम तथा योगिप्रत्यक्ष आदि से विलक्षण होती है। इसका कारण यह है कि रस की अनुभूति साक्षात्कारात्मक होती है। अनुमान तथा आगम से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष या साक्षात्कारात्मक न होकर परोक्ष होता है। इसलिए साक्षात्कारात्मक या अपोरक्ष रसानुभूति, परोक्ष अनुमान तथा शब्द प्रमाण से उत्पन्न ज्ञान से भिन्न प्रकार की होती है। इसके साथ ही वह साक्षात्कारात्मक अथवा अपरोक्ष ज्ञान रूप योगिप्रत्यक्ष से भी भिन्न होती है। क्योंकि योगि–प्रत्यक्ष साक्षात्कारात्मक होने पर भी इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष आदि की अपेक्षा नहीं रखता है।

परन्तु रसानुभूति के लिए इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष आदि की आवश्यकता होती है। इसीलिए रसानुभूति को अनुमान, आगम तथा योगि–प्रत्यक्ष सब से विलक्षण माना है। आगे आचार्य अभिनव कहते हैं कि नाटक के अनेक विभावादि या पात्रादि के व्यापारों से एक ही रस की निष्पत्ति होती है। अर्थात् नाटक को जो प्रधान रस होता है वह समस्त पात्रों के व्यापार से निष्पन्न होता है। उसके साथ अन्य रसों की स्थिति नगण्य–सी होती है।

स्फोटवाद और रस निष्पत्ति का सम्बन्ध

स्फोटवाद सिद्वान्त में जैसे पदस्फोट में वर्णों की, एवं वाक्यस्फोट में पदों की असत्य स्थिति होती है इसी प्रकार नाटक के प्रधान रस में अन्य रसों की असत्य स्थिति होती है। यह बात 'स्फोट सदृंशीव असत्यानि' इस अंश से अभिनवगुप्तपाद ने सूचित की है। 'स्फोटवाद' वैयाकरणों का सिद्धान्त है। साधारणतः अनेक वर्णों के योग से पदों की तथा अनेक पदों के योग से वाक्य की रचना मानी जाती है। परन्तु स्फोटवाद में न पदों में वर्णों की पृथक् सत्ता मानी जाती है ओर न वाक्य में अलग–अलग पदों की स्वतंत्र सत्ता मानी जाती है।

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात् पदानामत्यन्तँ प्रविवेको न कश्चन।।

इस सिद्धान्त के अनुसार वर्ण, पद तथा वाक्य सब अखण्ड हैं। वाक्यों में पदों तथा पदों में वर्णों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। अखण्ड वाक्य तथा अखण्ड पदको ही 'वाक्यस्फोट तथा 'पदस्फोट' कहते हैं। ये 'स्फोट' ही अर्थ के बोधक होते हैं इसीलिए 'स्फुटति अर्थो यस्मात् इति स्फोटः' इस व्यत्पत्ति के अनुसार उनको स्फोट' कहा जाता है। यदि 'स्फोट' को न मानकर अलग–अलग पदों तथा वर्णों को माना जाय और उनके संयोग से पदों अथवा वाक्य की रचना मानी जाय तो ध्वन्यात्मक वर्णों के तत्काल तिरोहित हो जाने के कारण उनके समुदाय रूप पदों तथा वाक्यों की रचना सम्भव ही न होगी। तब उनसे अर्थ प्रतीतिका भी सम्भव नहीं होगा।

इसलिए वैयाकरण पद विभाग रहित 'वाक्यस्फोट' तथा वर्णविभाग रहित 'पदस्फोट' को ही अर्थ–बोधक मानते हैं। और इस स्फोटात्मक शब्द को नित्य मानते हैं। नैयायिक शब्द को अनित्य मानते हैं और स्फोटवाद को भी नहीं मानते हैं फिर भी वर्ण समुदायात्मक पद, तथा पदसमुदायात्मक वाक्य की प्रतीति के उपपादन के लिए वे पूर्ववर्णनुभवजनितसंस्कारसहकृत चरमवर्ण के श्रवण से सदसद् अनेक वर्णावगाहिनी पदप्रतीति को मानते हैं। इसी प्रकार वाक्यस्फोट के स्थान पर वे पूर्वपदानुभवजनितसंस्कारसहकृत अन्त्यपदश्रवण से सदसद् अनेक पदावगाहिनी वाक्यप्रतीति को मानते हैं। परन्तु वैयाकरण इनके स्थान पर नित्य पदस्फोट तथा वाक्यस्फोट मानते हैं।

अभिनव ने यहाँ नाट्यरस का निरूपण करते हुए स्फोट का उदाहरण दिया है। उनके उदाहरण का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार स्फोटवाद के अनुसार वाक्य अथवा पद रूप एक अखण्ड व्यक्ति की प्रतीति होती है उसमें अवयवों की प्रतीति असत्य कल्पनामात्र है इसी प्रकार नाटक का रस, एक प्रधान रस ही होता है उसमें अन्य गौण रसों की स्थिति स्फोट के अवयवों की स्थिति के समान असत्य ही मानी जा सकती है। इसी बात को स्पष्ट करने केलिए अभिनवगुप्तपाद ने अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद का भी उल्लेख किया है। ये दोनों सिद्धान्त मीमांसकों के दो आचार्यों ने माने हैं। अभिहितान्वयवाद के प्रतिपादक कुमारिलभट्ट तथा अन्विताभिधानवाद के प्रवर्तक उनके शिष्य प्रभाकर मिश्र हैं। वाक्य से अर्थबोध की प्रक्रिया के विषय में मतभेद होने के कारण ये दोनों सिद्धान्त प्रसिद्ध हुए हैं। साधारणतः पदों से, पहिले उनके अर्थों की उपस्थिति होती है उसके बाद उन पदार्थों का परस्पर अन्वय या सम्बन्ध होकर पदार्थ–संसर्ग, रूप वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। इसको 'अभिहितान्वयवाद' कहते हैं। पहिले पदों के द्वारा पदार्थों के अभिहित होने और उसके बाद उनके अन्वित होने के कारण इसका नाम 'अभिहितान्वयवाद' रखा गया है। और यह कुमारिलभट्ट का मत माना जाता है।

इसके विपरीत दूसरा सिद्धान्त 'अन्विताभिधानवाद' कहलाता है। 'अन्विताभिधानवाद' का अभिप्राय यह है कि वाक्यार्थ बोध में पदों का अभिहित होने के बाद अन्वय नहीं होता है अपितु पदों के द्वारा अन्वित अर्थ ही अभिहित होता है। इसीलिए इसको 'अन्विताभिधानवाद' कहते हैं। अन्विताभिधान मानने का कारण यह है कि व्यवहार से पदों की शक्ति का ग्रहण जब होता है तब व्यवहार तो केवल–पदार्थ का नहीं होता है अपितु किसी अन्य के साथ अन्वित या सम्बद्ध अर्थ का ही व्यवहार होता है। इसलिए संकेतग्रह काल में अन्वित में ही संकेत का ग्रहण होने से अन्वित अर्थ का ही अभिधान, पदके द्वारा होता है। इसलिए उसका बाद में अन्वय मानने की आवश्यकता नहीं है। यही 'अन्विताभिधानवाद' है। इसके प्रवर्तक कुमारिल भट्ट के शिष्य प्रभाकर हैं।

यहाँ अभिप्राय यह है कि अन्विताभिधानवाद में पदार्थ यद्यपि सत्य है वाक्यार्थबोध के समय उनकी अलग–अलग प्रतीति भी होती है। परन्तु वह उपायभूत ही है वास्तव में तो अन्वित पदार्थ ही प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार नाटक के मुख्य रस के साथ अन्य रसों की स्थिति 'अन्विताभिधानवाद' के उपायात्मक सत्य के रूप में मानी जा सकती है। अथवा 'अभिहितान्वयवाद' में पदार्थों का बोध पहिले होकर उनके समुदाय रूप से वाक्यार्थ का बोध होता है। इसी प्रकार नाटक में अन्य सब रस, पदार्थों के समान गौण होते हैं और प्रधान रस का बोध कराते हैं। प्रधान रस उन सबके समुदाय रूप में होता है।

आगे इसी कारिका में अभिनवगुप्त पाद ने 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' अर्थात् नाटक में आठ रस माने जाते हैं, यह कहा है। काव्यमें इन आठ रसों के अतिरिक्त शान्तरस भी माना जाता है। उसको मिला कर नौ रस हो जाते हैं। परन्तु नाटक में 'शम' की पुष्टि न हो सकने के कारण उसको रस नहीं माना जाता है इसलिए आठ ही रस माने जाते हैं। भरतमुनि ने यद्यपि यहाँ आठ रसों का निर्देश किया है परन्तु उसके साथ 'नाटये' पद जोड़ कर यह भी सूचित किया है कि नाट्य के अतिरिक्त

अन्य काव्यों में शान्त–रस भी हो सकता है। (429–431, षष्ठ अध्याय; डॉ. नगेन्द्र, अ.भा.)

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि 'नाट्य' के साथ ही उसको अलंकृत करने वाले 'नृत्त' और 'नृत्त' के साथ ही उससे मिलता–जुलता एक और शब्द 'नृत्य' भी है जो 'नृत्त' की अपेक्षा अधिक प्रचलित है। वस्तुतः 'नाट्य', 'नृत्य' और 'नृत्त' इन तीनों शब्दों के अर्थ में कुछ भेद है। 'नाट्य रसाश्रित और वाक्यभिनयात्मक' होता है। 'नृत्य' भावाश्रित एवं पदार्थाभिनयात्मक होता है और 'नृत्त' ताल–लयाश्रित एवं भावाभिनय–शून्य होता है। धनञ्जय ने अपने 'दशरूपक' के प्रारम्भ में इनके विषय में अच्छा विवेचन किया है। रूपक के नाटक आदि दस भेदों का निर्देश करने के बाद उन्होंने यह प्रश्न उठाया है कि डोम्बी, श्रीगदित आदि नामक 'नृत्य' के भी सात भेद होते हैं। उनकी गणना भी रूपक–भेदों के साथ की जानी चाहिए। फिर आपने रूपक के दस ही भेद कैसे माने हैं। इस प्रश्न का समाधान करते समय 'नृत्य' और 'नृत्त' का भेद प्रतिपादन करते हुए धनञ्जय ने लिखा है–

'अन्यद् भावाश्रयँ नृत्यं, नृत्तं ताललयाश्रितम्'। (दशरूपक, 1–9)

अर्थात् रसाश्रित नाट्य से भावाश्रित नृत्य अलग ही है। और ताल–लयाश्रित 'नृत्त' 'नृत्य' से भी भिन्न होता है। अतः नृत्य के भेदों की गणना नाट्य के दस भेदों में नहीं की जा सकती है। आगे इसी कारिका के द्वितीय चरण में उन्होंने कहा है कि 'नृत्य' भावाश्रित होता है और 'नृत्त' ताल–लयाश्रित होता है। धनिक ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है–

''रसाश्रयान्नाटयाद् भावाश्रयमिति विषयभेदात्, नृत्यमिति नृतेर्गात्रविक्षेपार्थत्वने आङ्गिकबाहुल्यात्, तत्कारिषु च नर्तकव्यपदेशात, लोकेऽपि च 'अत्र प्रेक्षणीयकम्' इति व्यवहारात् नाटकादेरन्यन्नृत्यम्। तद्भेदत्वाच्छ्रीगदितादितादेखधारणोपपत्तिः। नाटकादि च रसविषयम्। रसस्‍य च पदार्थी भूतवि भावादिसंसर्गात्मकवाक्यार्थहेतुकत्वाद् वाक्यार्थाभनयात्मकत्वं 'रसात्रयमित्यनेन दर्शितम्।'' (कारिका 1, प्रथमोाध्यायः, पृ. 13, अभिनवभारती, हिन्दी, डॉ. नगेन्द्र)

कतिपय संगीत विभूतियाँ

श्रृङ्गारशेखर वारङ्गल तैलङ्गना के निवासी थी। इनकी रचना 'अभिनयभूषण' है। इस ग्रन्थ पर तामिल टीका भी उपलब्ध है। इस ग्रन्थ में शुक्राचार्य, स्कन्द, वृहस्पति, कोहल, दुर्वासा, अर्जुन, वायुसूनु, भरतार्णव, नन्दिकेश्वर, याज्ञवल्क्य इत्यादि के उद्धरण है। श्रृङ्गारशेखर ने नक्षत्रों एवं राशियों का साङ्तिक वर्णन किया हे। पुरुष एवं स्त्री रोगों की भी चर्चा इन्होंने की है। इनके अनुसार पुरुष राग आठ हैं, जिनके नाम भूपाल, भैरव, श्री, कल्पञ्जर, वसन्त, बङ्गाल, मालव एवं नाटक हैं।

भूपाल की पत्नियाँ –

बेलाकुली, मलहरी और मौलि,

भैरव की पत्नियाँ–

देवक्रिया, मेघरञजी ओर करञजी,

श्रीराग की पत्नियाँ–

हिन्दोली, और माहुरी,

कलपञ्जर की पत्नियाँ –

शंकराभरण, देशी और ललिता,

वसन्त की पत्नियाँ–

रामक्रिया, वराली और कौलिका,

मालव की पत्नियाँ–

गुण्डक्रिया, और गुर्जरी,

बङ्गाल की पत्नियाँ–

धन्यासिका, काम्भोजी एवं कर्णाटगौडिका,

नाटक या नाट की पत्नियाँ–

नारायण, गौड, देशाक्षी और आहिरी हैं।

उपरोक्त विवरण से यह भी ज्ञात होता है कि राग–रागिनी वर्गीकरण केवल उत्तर भारत की ही विशेषता नहीं है अपितु दक्षिण भारत में भी राग–रागिनी विवरण प्राप्त होते हैं। इसी सन्दर्भ में ध्यातव्य है कि यद्यपि रागों पर केन्द्रित लगभग सभी प्राचीन ग्रन्थ जिनमें मेल–राग का विवरण है, पुरुष और स्त्री रागों के नाम देखने को मिलते हैं। परन्तु श्रीकण्ठ–कृत रसकौमुदी में विशेषतः पुरुष और स्त्री रागों के नाम उन रागों के ध्यान के आधार पर दिये गये हैं। श्रीकण्ठ ने 23 पुरुष राग और 15 स्त्री राग (रागिनी), 11 मेल–राग के अन्तर्गत दिये हैं। रसकौमुदी में पुरुष रागों की संख्या स्त्री रागों से अधिक है। प्रायः प्राचीन ग्रन्थ स्त्री राग (रागिनी) का पुरुष–राग की पत्नी के रूप में उल्लेख करते हैं और प्रत्येक राग का ध्यान श्लोक भी दिया है जो राग–रागिनी विभाग का आधार है।

श्रृङ्गार रस और राग निरूपण

पुरुषलिंग राग ओर स्त्रीलिंग रागिनी का प्रारूप संगीत के मध्यकालीन साहित्य और ग्रन्थों में, श्रृङ्गार रस पर आधारित अलग–अलग भावों के आधार पर ही दर्शाया गया है। राग–ध्यान अथवा रागों के ध्यान के विवेचन के मूल में प्रारम्भ से ही नायक–नायिका भेद साहित्यिक केन्द्र–बिन्दु में रहा है। मध्यकालीन साहित्य में विशेषकर इस विषय पर (नायक–नायिका भेद) पर अति गहन और सारगर्भित कार्य हुआ है। आचार्य सोमनाथ ने अपने ग्रन्थ रागविबोध की व्याख्या में इस विषय पर विचार किया है। श्रीकण्ठ रसकौमुदी में कहते हैं कि;

ध्यानं बिना रागसमूहमेतं गायन्ति रागे(ऽ) निपुणो जना ये।
संगीतशास्त्रोक्तफलानि रागास्तेभ्यः प्रयच्छन्ति कदापि नैव।।
अतो मया रागकदम्बकस्य निगद्यते ध्यानमिदं यथोक्तम्।
दृष्ट्वा मुनीनां मतमेव सर्वं संगीतशास्त्रोक्तफलस्य सिद्धयै।।

रसकौमुदी में दिये गये कुछ रागों के ध्यान श्लोकों को उदाहरणार्थ देखें–

(1) सौराष्ट्रिकाध्यानम्–

उत्तुङ्गपीनस्तनलोलहारा कर्णेत्पलालिध्वनिदत्तचित्ता।

प्रियान्तिकँ याति विलोलबाहुः सौराष्ट्रिका कुङ्कुमलिप्तगल्ला।।

उपरोक्त ध्यान–श्लोक 'अभिसारिका' नायिका की ओर इशारा कर रहा है, ऐसा प्रतीत होता है।

इसी प्रकार (2) गुर्जरीध्यानम् को देखें–

इन्दीवरश्यामतनुः सुकेशी पाटीरपात्रावलिचारूतल्पा।

श्रुतिस्वरव्यूहविभागरम्या तन्त्रीमुखान्मञ्जुलगुर्जरीयम्।।

यहाँ उपरोक्त राग गुर्जरी का ध्यान–श्लोक, 'वासकसज्जा' नायिका की ओर इशारा करता हुआ प्रतीत होता है।

(2) अथ भैरवध्यानम् –

गङ्गाधरश्चन्द्रकलोत्तमाङ्गगो भुजङ्गमव्यूहविभूषिताङ्गः।

शुभ्राम्बरः शूलविभूतिधारी स भैरवाख्यो जयति प्रकामम्।।

अन्यान्य आचार्यों ने भी भैरव–राग का ध्यान–श्लोक उपरोक्त प्रकार से ही अपने अपने ग्रन्थों में उल्लिखित किया है। 'गीत–गोविन्द' की अपनी टीका रसिकप्रिया में महाराणा कुम्भ ने हरिरमितचम्पकशेखर नामक चतुर्दश प्रबन्ध को श्रीराग में गाये जाने का विधान बताया है। यहां श्रृङ्गार रस के रसास्वादन केलिए श्रीराग में गायन का महत्त्व महाराणा कुम्भ ने दर्शाया है। श्रीकण्ठ ने अपने ग्रन्थ रसकौमुदी में 'श्रीराग' के मेल, लक्षण, ध्यान आदि इस प्रकार कहे हैं;

(3) अथ श्रीरागमेलः

चतुःश्रुती रिधौ यत्र भवेतां नियतं स्वरौ।

साधरणोऽपि गान्धारो निषादः कैशिकी पुनः।।

वीणिकाविषये शुद्धाः षड्जमध्यमपञ्चमाः।।

श्रीरागस्यापि मेलोऽयं गदितो गायकोत्तमैः।।

(Here the reference to Catuhsruti Rishabha Dhaivata, is worthy of note. These names convey the real interval of these notes, but they are, not found anywhere else in the whole of the text. Srikantha is influenced by Ramamatya (रामामात्य) but he also does not speak of these intervals, so this stray reference is curious. Here it is to be noted, that Shrangdeva's 'Catuhsruti Rishabha-Dhaivata' are not accepted by Srikantha and here he seems to refer to the actual four-sruti interval of Rishabha-Dhaivata (ऋषभ–धैवत), independent of Cyuta (च्युत) Sa-Pa respectively).

रसकौमुदी के अनुसार–

श्रीरागमेलान्तर्गतरागाः–

श्रीरागो मालवश्री च धन्यासी भैरवी ततः।

देवगान्धाररागाद्याः प्रभवन्त्यपरे ततः।।

श्रीरागलक्षणम्–

दिनान्ते गीयते षड्जग्रहांशन्यासशोभितः।

आद्यमूर्च्छनया पूर्णः श्रीरागो वा धगोज्झितः।।

श्रीरागध्यानम्–

कन्दर्पमूर्तिस्तरूणोऽरूणाम्बरः कर्णावतंसीकृतनव्यपल्लवः।

षड्जादिसेव्यः क्षितिपालसुन्दरः श्रीरागनामा नितरां विभासते।। (Source : Indian Aesthetics and Musicology, Vol. 1, Dr. Prem Lata Sharma, P. 263).

(4) अथ धन्यासिकालक्षणम्–

धन्यासिका प्रभातेऽसौ षड्जत्रितयमण्डिता।

रिघहीना रसे वीरे गीयते गायकोत्तमैः।।

धन्यासीध्यानम्–

नीलोत्पलश्यामलमूर्तिरेषा प्रियं लिखन्ती विरहेण युक्ता।

श्रीखण्डचर्चाविलसतकुचास्या धन्यासिका भाति मनोज्ञवेषा।।

Dhanyasi is presented here as a Nayika in separation (Virahotkanthita) (विरहोत्कण्ठिता), यहाँ धन्यासी एक विरहोत्कण्ठिता नायिका के रूप में आया है।

In the concluding portion of Ragaviveka section, in his Rasakaumudi Srikantha has defined Sampurna, Audava and Sadva as well as Suddha, Chayalaga and Samkirna-the traditional varieties of Ragas as indicated in the following verses. He has also accribed six Ragas to six seasons and six seasons to six parts of the cycle of day and night in 'Sisira', by way of an example, as follows-

Season	**Raga**	**Period in day and Night in Sisira**	**Season**
Sisira	Bhupala	Purvahna	Vasanta
Vasanta	Vasanta	Madhyahna	Grisma
Grisma	Bhairava	Divasanta	Varsa
Varsa	Megha	Ratryardha	Sarat
Sarat	Pancama	Rajanisesa	Tusaragama (Hemanta)
Hemanta	Natanarayana	Nityam (in all periods)	Sisira

औडवः पञ्चभिः प्रोक्तः स्वरैः षड्भिस्तु षाडवः।
सम्पूर्णः सप्तभिस्त्वैवं त्रिधा रागा बुधैर्मताः।।
रागास्ते त्रिविधाः प्रोक्ताः शुद्धाः छायालगास्ततः।
संकीर्णाश्च पृथक् तेषां लक्षणं प्रतिपाद्यते।।
अन्यै रागैर्न युक्ता ये शुद्धास्ते परिकीर्त्तिताः।
छायालगा मताः प्राज्ञैः पररक्तियुताश्च ये।
दयो रक्त्युता ये तु सङ्कीर्णास्ते निरूपिताः।।

ऋतुरागाः–

भूपालः शिशरे वसन्तसमये गेयो वसन्तो मुदा

ग्रीष्मे भैरवसंज्ञकोऽतिसुभगो वर्षासु मेघाभिधः।

रागो रागविदां वरैः किल शरत्काले पुनः पञ्चमो

हेमन्ते च नटात्परोऽतिरूचिरो नारायणाख्यः क्रमात्।।

पूर्वाह्णे सुधियो वसन्तसमयं मध्याह्नकालं पुनर्ग्रीष्मं

वारिधरागमं च दिवसस्यान्त्यं विभागं तथा।

रात्रयर्द्धं शरदं वदन्ति रजनीशेषं तुषारागमं

नित्यं शैशिरके दिनेऽपि नितरामित्थं ऋतोः कल्पना।।

Furthermore, Srikantha also describes षड्ऋतुवर्णनम् as follows;

अथ षड्ऋतुवर्णनम् –

ऋतूनां वर्णनं युक्त्या नवमे क्रियते क्रमात्।

ऋतवो विविधैर्भोगैरातन्वन्ति मुदं यतः।।

यहाँ श्रीकण्ठ आचार्य ने षड्ऋतु विभाग को 'उद्दीपन विभाव' के समकक्ष रखकर उसकी रचना की है। भारतीय परम्परा में 'स्वर ज्ञान' से रसानुभाव की निष्पत्ति हेतु षड्ऋतु से उसके सम्बन्ध पर भी विचार किया गया है। श्रीराग के स्वर, गायन–विधि, गायन–समय और गायन से फलप्राप्ति, निम्नलिखित श्लोक में उद्धृत है–

श्रीरागः कथितोऽत्र तीव्रनिगमोऽस्मिन्कोमलौ धर्षभौ

वादि पंचम ईरितो मधुरसंवादी मतश्चर्षभः।।

आरोहे तु धगौ न संस्पृशति संपूर्णोऽवरोहे सदा

गीतोऽवश्यमसौ दिनांत्यसमये संभुक्तिमुक्तिप्रदः।।63।।

– इति श्रीरागः।। (रागकल्पद्रुमांकुरः पं. अपातुलस्युपाख्यकाशीनाथ प्रणीतः, सन् 1911, पृ. 14) श्रीराग और अन्य रागों के ध्यान श्लोक के साथ ही इस प्रकार

के अन्य उद्धरण भी कुछ ग्रन्थों में मिलते हैं।

जैसे;

अथ रागाणां ध्यानमाह–

नितम्बिनीचुम्बित वक्त्रपद्मः शुकद्युतिः कुण्डलवान् प्रमत्तः।

संगीतशालां प्रविशन् प्रदोषे मालाधरो मालवरागराजः।।19।।

उपरोक्त ध्यान श्लोक में मालवराग का अति रमणीय प्रस्तुतीकरण है। इसी प्रकार श्रीराग के विषय में आगे उल्लिखित है कि;

लीलाविहारेण वनान्तराले चिन्वन् प्रसूनानि वधूसहायः।

विलासिवेशोचितदिव्यमूर्त्तिः श्रीराग एष प्रथितः पृथिव्याम्।।33।।

यहाँ लीलाविहार वन के अनन्तर में विलास और सौन्दर्य अनुभूति के हेतु श्रीराग ही उपयुक्त है। अतः गीत–गोविन्द के चतुर्दश प्रबन्ध में श्रीराग में गायन अति रमणीय होकर भासता है और रसिक को श्रृङ्गार रस के रसास्वादन की प्रकर्षता का चमत्कारिक, अलौकिक अनुभव निष्पन्न होता है। (द्रष्टव्य : रघुनाथरथ कृत नाट्यमनोरमा, रागरागिणीध्यानप्रकरणं, द्वितीयः पादः, पृ. 17, 18)

आगे उपरोक्त ग्रन्थ में ही हमको रागों का गायनकाल भी देखने को मिलता है। उदाहरणार्थ पृ. 21, 23, पर श्रीराग के ही विषय में कहा गया है कि;

अथ रागाणां गायनकालनिर्णयमाह–

मध्याह्ने तु वराडयादेः सायं कर्णाटनाटयोः।

श्रीरागमालवादेस्तु गाने दोषो न विद्यते।।62।।

इस प्रकार रस निष्पत्ति हेतुक अन्य रागों में गेय गीत के गायनकाल का विधान भी नाट्यमनोरमा ग्रन्थ में इस प्रकार वर्णित किया गया है।

अथ रागैर्विरतानां गीतानां वीरादि रसेषु गायनकालमाह–

दिवसः प्रथमे यामे रसोवरः प्रकाशते।

अत उद्र्ध्वं रौद्ररसं, विदग्धा प्रहरद्वये।

चतुर्थ यामे करुणो रस स्तत्र उदाहृतः।।69।।

सायं ज्योत्स्नां च शृङ्गारो वीभत्सादभुतकौ निशि।

तमिस्त्रायामर्द्धरात्रे वर्णनीयो भयानकः।।70।।

चन्द्रोदये प्रभाते च रसः शान्तः उदाह्तः।

वर्णनीयो दिवा हास्यो रसानां काल ईदृशः।।71।।

इसी ग्रन्थ के द्वितीयः पादः में वर्णित उपरोक्त श्लोक के बाद ही रसों के स्त्री, पुरुष, नपुंसक भेद भी इस प्रकार कहे गये हैं–

अथ रसानां मध्ये स्त्री, पुरुष, नपुंसक भेदमाह–

वीभत्सः करुणो योषित् हास्श्चादभुत एव च।

शान्तश्च षण्ढः विज्ञेयाः शेषाः स्युः पुरुषा रसाः।।72।।

किसी भी राग के गायनकाल के निर्धारित समय का उल्लंघन करने से दोष होता है, यह कहते हैं–

उल्लंघ्य समयं रागान् यस्तु गायति गायकः।

तस्य कुर्वन्ति गन्धर्वाः सर्वनाशं न संशयः।।73।। (पृ. 21, 22)

आगे गीत–भेद का भी अत्यन्त सुन्दर वर्णन इसी ग्रन्थ में अगले ही पृष्ठ पर इस प्रकार किया गया है–

अथ गीतस्य शुद्धादिभेदत्रयमाह–

शुद्धं छायालगं, क्षुद्र मिति तञ्च त्रिधा मतम्।

क इतरः पक्षोऽस्ति–

शुद्धं–सालुग संकीर्णभेदाद्गीतं त्रिधान्वितम्।।

शुद्धं तु शिव–रूपेण शक्तिरूपेण सालुगम्।

द्वयोर्मिश्रं तु संकीर्णमतस्तत्त्रिविधं मतम्।।83।।

राग समय– राग के गायन समय का ज्ञान करने के दो साधन हैं – एक तो वादी स्वर का स्थान दूसरे स्वरों का तीव्र और कोमल होना।

पूर्वाङ्ग और उत्तराङ्ग वादी राग

स र ग म वादी मध्य दिन, ते आवत अधरात।

पधनिस वादी शेष दिन, सों राखत हैं नात।।

(द्र. काव्यमय संगीत विज्ञान, सोहन लाल एवं भद्रसेन कुमार, पृ. 38)

वाद्य और रस निरूपण

वाद्य यन्त्रों के द्वारा रस निष्पत्ति का निरुपण भारतीय नाट्य परम्परा में अति प्राचीन समय से किया जाता रहा है। जैसे उड़िसी नृत्य में मर्दल वाद्य का प्रयोग एक अति प्राचीन परम्परा है।

मर्दल वाद्य

उड़िसी नृत्य में मर्दल वाद्य का विशेष महत्त्व है। यह वाद्य उड़िसी नृत्य की रस परिपूर्ण भक्तिमय भाव भंगिमा में उपयुक्त सहायक के रूप में प्रयोग में लाया जाता है। मर्दल वाद्य अति प्राचीन काल से उड़िया नृत्य में प्रयोग में लाया जाता रहा है और आज भी यह परम्परा पूर्ण रूपेण जारी है। यह वाद्य आनन्द वाद्य कहा जाता है क्योंकि रसिक को यह आनन्ददायक रस की प्रतीति कराता है। नाट्यमनोरमा ग्रन्थ में (पञ्चमः पादः, पृ. 57, 58) पर इस विषय में कहा गया है की–

अथ आनद्धवाद्यानाह–

मर्दलो मुरज श्चैव ढ़क्का पटह चाङ्गवः।

पटवः कुण्डली भेरी घटवाद्यं च झर्झरः।

डमरू ष्टुमुकिर्मन्थो हुडुक्को मड्डुड़िण्डिमौ।

उपाङ्ग दर्दुरावित्यादिकमानद्धमीरितम्।।52।।

मर्दल वाद्य की उपयोगिता के विाय में अगले पृष्ठ 58 पर इसी ग्रन्थ में कहा गया है कि–

अथ मर्द्दलोपयोगित्वादत्रन्नवाङ्गः गृह्यते–

रागोमेलापकोजादि श्चकार श्चपाटकः।

गतिश्चकतरोमान एतज्जानाति तालवित्।।

आनद्धे मर्दलःश्रेष्ठो यतस्तल्लक्षणं ब्रुवे।

आगे अगले पृष्ठ पर मर्दल के माहात्म्य को ग्रन्थकार कहते हैं–

अथ मर्दलस्य माहात्म्यमाह–

मर्दलः प्रवरः प्रोक्तः सर्व वाद्योत्तमोत्तमः।

अस्य संयोग मासाद्य सर्वं वाद्यं तु शोभते।।59।।

अर्थात्– मर्दल वाद्य सभी वाद्यों में अति उत्तम है और इसके संयोग से ही अन्य सभी वाद्य शोभित होते हैं। अतः उड़िसी नृत्य में विशेषकर मर्दल वाद्य अति महत्वपूर्ण है और उड़िसी नृत्य के प्रारम्भ से ही यह मर्दल वाद्य उड़िसी नृत्य शैली का एक अभिन्न अंग है।

नृत्य निरुपण

सर्वजनरञ्जनतया नृत्यमाह–

यो यस्य दयितोभावः स तं नाटये निरीक्ष्यते।

अतः सर्वमनोहारी नाटयं कस्य न रञ्जकम्।।72।।

तन्नाटयनृत्यनुत्तानि शम्भोरग्रे प्रयुक्त्वान्।

ज्ञात्वा चतुर्मुख–मुखाद्भरतो हि मुनीश्वरः।।73।। (पृ. 60)

तत्र नृत्यलक्षण माह–

देशरीत्या प्रतीतो यस्ताल मान लयाश्रितः।

सविलासाङ्ग–विक्षेपो नृत्यमित्युच्यते बुधैः।।74।।

विलासो यथा–

नायकालोकनादौ तु विशेषो हि क्रियासु यः।

श्रृङ्गार–चेष्टासंहितो विलासः स निगद्यते।।75।। (नाट्यमनोरमा, पंचमः पादः, पृ. 60, 61)

अर्थात्– देशी रीति से ताल, मान और लय पर आश्रित विलास रूपी अङ्ग सहित विक्षेप को ही ज्ञानी जनों ने नृत्य कहा है। आगे विलास को परिभाषित किया गया है– नायक के द्वारा लोक में नाद आदि विशेष क्रिया जो शृङ्गार–चेष्टा सहित होती है विलास के रूप में जानी जाती है। आगे नृत्य की महिमा का वर्णन है।

नृत्य करने वाले के मन्वन्तर शत वर्षों तक के सभी पापों का दहन हो जाता है। ऐसी नृत्य की महिमा कही गयी है। उसके शरीरस्थ समस्त उड्डीयान पर्यन्त सभी पीठों के सभी पातक नष्ट हो जाते हैं।

आगे नृत्य के भेद कहे गये हैं–

अथ नृत्यस्य भेदद्वयमाह–

ताण्डवं लास्यमित्येतन्नृत्य द्वेधा निगद्यते।

पुं नृत्यं ताण्डवं नाम स्त्री नृत्यं लास्यमुच्यते।।79।।

अर्थात्– ताण्डव और लास्य नृत्य के द्विविध भेद हैं। पुरुष नृत्य ताण्डव कहलाता है और स्त्री नृत्य को लास्य कहा जाता है। प्रायः सभी नृत्य भारतवर्ष में लास्य ही होते हैं, कुछ एक अपवादों को छोड़कर जो पुरुष नृत्य होते हैं। ताण्डव और लास्य के भी भेद कहे गये हैं।

अथ ताण्डवस्यापि भेदद्वयमाह–

प्रेरणी वहुरूपं च ताण्डवं द्विविधं मतम्।

अथ लास्यमाह–

लास्यं तु सुकुमाराङ्ग मकरध्वजवर्द्धनम्।

अथ लास्यस्यापि भेदद्वयमाह–

स्फुरितं यौवतं चेति लास्यं द्विविधमुच्यते।।82।।

लस्य के द्विविध भेद है– स्फुरित ओर यौवत। इन दो भेदों को कहते हैं–

अथ स्फुरित लक्षणमाह–

यत्राद्येऽभिनये भावै रसै राश्लेष–चुम्बनैः।

नायिका–नायकौ यत्र नृत्यतः स्फुरितं हि तत्।।83।।

यह लास्य जो नायक–नायिका द्वय का नृत्य है, जिसमें अभिनय और रसाभाव निहित है, स्फुरित कहलाता है।

अथ यौवतलास्य लक्षणमाह–

मथुरा–गोपलीलाभि र्नटीभिर्यत्र नृत्यते।

वशीकरणं यत्रैव तल्लास्यं यौवतं मतम्।।84।।

मथुरा में गोपियों की लीला का नृत्य जिसमें वशीकरण निहित है, यौवत लास्य कहलाता है। जैसा कि उपरोक्त श्लोकों से विदित होता है रस–निष्पत्ति में, विशेषकर श्रृङ्गार रस की निष्पत्ति में लास्य नृत्य का अति विशेष महत्व है।

नृत्य के प्रवर्त्तन क्रम को भी इस ग्रन्थ में आगे कहा गया है–

अथ नृत्यप्रवर्त्तनक्रममाह–

गेयादुत्तिष्ठते वाद्यं वाद्याद्युत्तिष्ठते लयः।

लयताल–समारब्धं ततो नृत्यं प्रवर्त्तते।।85।।

अर्थात्– गेय से वाद्य, वाद्य से लय, और लय–ताल में आबद्ध प्रवर्त्तन ही नृत्य कहाता है। (पंचमः पादः, नाटयमनोरमा, पृ. 61, 62)

आगे गोपियों के आठ प्रकार के नृत्य बताये गये हैं–

काष्ठी, जाकड़ी, शावरी, कुरङ्गी, मत्तावली इत्यादि, जिज्ञासु गण विविध प्रकार के नृत्य भेद जानने हेतु संगीतार्णवचन्द्रिका ग्रन्थ को भी देख सकते हैं।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि नृत्य में स्त्री ही प्रधान पात्र के रूप में केन्द्रित होती है। इस विषय में कहा गया है की–

अथ नृत्ये स्त्रिय एव प्रधानपात्रमिति दर्शयितुमाह–

रसस्य च स्त्रियोमूलमात्त यौवन–विभ्रमाः।

तस्मान्नृत्येषु पात्राणि स्त्रियः कार्याः प्रयत्नतः।।

यतः–पुंभिः प्रयुक्ताङ्गहारा न शोभन्ते कदाचन।

सहजाऽन्यारोपितयोः सहजस्तु विशिष्यते।।100।।

आगे नर्तकी के लक्षण कहे गये हैं–

अथ नर्त्तकीस्त्रीणां लक्षणमाह–

नातिदीर्घो न खर्वा च सुपक्ष्माच सुलोचना।

सर्वाङ्ग–सुभगा चारू–नितम्बजघनस्तना।।

लयमान समायुक्ता यतितालग्रहोत्तमा।

कन्या सुरभसा पुण्या नर्त्तकी समुदाहृता।।102।।

दशवर्षा भवेत्कन्या इति स्मृति वाक्यमप्यस्ति।।

(पृ. 64, नाटयमनोरमा, पञ्चमः पादः, पृ. 63–64)

नाट्य में श्रृङ्गार रस की निष्पत्ति

नाट्य में नट आदि की उपस्थिति और रसानुभूति पर महाराणा कुम्भ कहते हैं–

[नवरसाः]

अथ नव (रसा) लिख्यन्ते।

जीयाद्विसदृशी काचिदपूर्वेव सरस्वती।

यस्यां समभवञ्चित्रं काव्यरत्राकरो महान्।।145।।

ननु कोऽयं रसो नाम पदार्थस्तद्विचार्यते।

रस्यते वा सहृदयैः स्वयं वा रस्यते रसः।।146।।

विभावैर्जनितो भावोऽनुभावैरनुबोधितः।

व्यभिचारिभिरास्फीतो रस इत्यभिधीयते।।147।।

नटोऽनुकरणत्वेन भावुकः पात्रमुच्यते।

सभ्यनायकयोस्तस्याश्रयत्वं मन्यते परे।।148।।

इति सर्वमिदं सम्यग् रमणीयतरं मतम्।

एवं सति नृपेणोक्तो नृप एव रसाश्रयः।।149।।

एवं रसाश्रयं सम्यग् राजा सर्वरसाश्रयः।

नाग्र (अग्रे) स्फुरत्सर्वरसः (सर्वसर्वरसः) सम्यगेवं न्यरूपयत्।।150।।

आगे श्रृंङ्गाररस का विवेचन करते हुए महाराणा कुम्भ सर्वप्रथम कहते हैं की–

श्रृङ्गारहास्यकरूणा रौद्रवीरभयानकाः।

वीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाटये रसाः स्मृताः।।151।।

नाट्य में श्रृङ्गार, हास्य, करूणा, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त यह नौ रस होते हैं।

यथा चाह भगवान् भरताचार्यः सूत्रेण– ''विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।''

अर्थात्– भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में दिये रससूत्र के अनुसार विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

आगे महाराणा कुम्भ कहते हैं–

मन्ये गुणागुणविशेषविवेकदक्षः श्रृङ्गारमेव सकलेषु रसेषु मुख्यम्।

यत् स्वीयमर्धुमु (म) पहाय तनोर्बभार तत्राद्रिराजतनयार्धममोच्यमीशः।।152।।

धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या इतीतिहासस्य च मूलमेषः।

श्रृङ्गारनामा रस इत्यतोऽयमादौ मया लक्षणमुच्यतेऽस्य।।153।।

पुंनार्योश्चष्टितं यञ्च रत्युत्थं स्यात्परस्परम्।

तदाहुः केऽपि श्रृङ्गारं केऽपि त्वपरथा जगुः।154।।

सुखप्रायेष्टसंपन्न ऋतुमाल्यादिसेवकः।

पुरुषः प्रमदायुक्तः श्रृङ्गार इति संज्ञितः।।155।।

ऋतुमाल्यालङ्कारैः प्रियजनगान्धर्वकाव्यसेवाभिः।

उपवनगमनविहारैः श्रृङ्गाररसः समुद्भवति।।156।।

नयनवदनप्रसादैः स्मितमधुरवचोधृतिप्रमा(मो) दैश्च।

मधुरैश्चाङ्गविकल्पैस्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः।।157।।

संभोगे, विप्रलम्भेन विना न रतिकारकः।

कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो यतो भवेत्।।158।।

भावप्रगल्भा यथा–

न जाने संमुखायाते प्रियाणि वदति प्रिये।

सर्वाण्यङ्गानि (किं यान्ति) श्रोत्रतामुत नेत्रताम्।।166।।

।।इति श्रृङ्गारः।। (215–216, नृत्यरत्नकोश, द्वितीय भाग, महाराणा कुम्भ कृत–उल्लास 4, परीक्षण 3)।

उपरोक्त श्लोकों में महाराणा कुम्भ ने नवरसों में से श्रृङ्गार रस को प्रमुख रस कहा है और श्रृङ्गार रस के नाट्य में निष्पन्न होने को बतलाया है और श्रृङ्गार रस के लक्षण उन्होंने कहे हें। पुरुष और नारी की परस्पर चेष्टा से रति का उत्थान होता है, और उसको श्रृङ्गार रस कहते हैं। यह सुख और प्रायः इष्ट से संपन्न ऋतु आदि से सेवित पुरुष और प्रमदा से युक्त श्रृङ्गार रस कहलाता है। इसमें ऋतु, अलङ्कार, प्रियजन, गान्धर्व काव्य आदि होते हैं और उपवन में विहार आदि से श्रृङ्गाररस (की अनुभूति होती है) का उद्‌भव होता है। इस श्रृङ्गाररस में नयन वदन के प्रसाद, मधुर वचन और मधुर अङ्ग के वैकल्पिक अभिनय को प्रयुक्त किया जाता है और संभोग और विप्रलम्भ (विरह) दोनों ही श्रृङ्गार रस में रति के कारक कहे जाते हैं। वस्त्र, राग आदि इसमें सहायक होते हैं।।152–158।।

नाट्य में श्रृङ्गार रस की अनुभूति के विषय में महाराणा कुम्भ उपरोक्त श्लोकों में कहते हैं की– कैसे कोई रस नामक पदार्थ निष्पन्न होता है। जो रसानुभव करता है वह सहृदय है, और वह स्वयं ही इस पदार्थ–रस का रसपान करता है। विभाव से उत्पन्न और भाव, अनुभाव से बोधित और व्यभिचारि से स्फुरित होकर ही रस की उत्पत्ति को जाना जाता है। नट का अनुकरण करने वाले को नृत्य में भावुक पात्र कहते हैं, सभ्य नायक उसी का सहारा नृत्य में लेता है। जैसे समस्त सभा राजा का सहारा लेती है, उसी प्रकार सभी सम्यग् रूपेण नट का अनुकरण कर रमणीय नृत्य

की प्रस्तुति करते हैं। राजा स्वयं भी रसाश्रय सम्यग् रूपेण लेता है और फिर रस को सम्यग् रूप से ही आगे सर्वरस में स्फुरित करता है।।145–150।।

श्री मम्मटाचार्य कृत काव्यप्रकाश के ध्वनि–निरूपण नामक चतुर्थ उल्लास में, कारिका 21, सूत्र 44, में कहा गया है–

श्रृङ्गार–हास्य–करूण–रौद्र–वीर–भयानकाः।

वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाटये रसाः स्मृताः।।29।।

अर्थात्– 1. श्रृङ्गार, 2. हास्य, 3. करूण, 4. रौद्र, 5. वीर, 6. भयानक, 7. वीभत्स और 8. अद्भुत– नाट्य में ये आठ रस माने जाते हैं।।29।। यह कारिका मूल रूप से भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की कारिका है। मम्मटाचार्य ने उसे भरत–नाट्यशास्त्र, अध्याय 6–16 से ही लिया है। इसमें विशेषतः नाट्यगत आठ रसों का क्रमशः उद्देश अर्थात् नाममात्र से कथन किया है। भरतमुनि ने इन आठों रसों का जो इस विशेष क्रम से कथन किया है उसका विशेष प्रयोजन है, जिसे 'अभिनवभारती' में अभिनवगुप्तपादाचार्य ने लिखा है। वे वहाँ लिखते हैं– तत्र कामस्य सकलजातिसुलभतयात्यन्तपरिचितत्वेन सर्वान् प्रति हृद्यतेति पूर्वं श्रृङ्गारः। अर्थात्– रति या काम न केवल मनुष्य जाति में अपितु सभी जातियों में मुख्य प्रवृत्ति के रूप में पाया जाता है। और सबको उसके प्रति आकर्षण होता है, इसलिए सबसे पहिले श्रृङ्गार को स्थान दिया गया है। इसी प्रकार अन्य रसों की क्रमबद्धता को आगे अभिनवगुप्तपाद ने अभिनवभारती में लिखा है, जैसे वे कहते हैं कि हास श्रृङ्गार का अनुगामी है, इसलिए श्रृङ्गार के बाद हास्य रस को स्थान दिया गया है।

शान्तरस

शान्तरस को लेकर न केवल आधुनिक विद्वानों में, किन्तु प्राचीन विद्वानों में भी मतभेद पाया जाता है। इस मतभेद का मुख्य आधार भरतमुनि का यह 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' (6–16) वाला श्लोक ही है। यही श्लोक ऊपर उद्धृत किया गया है। भरत के इसी वचन के आधार पर प्राचीन आचार्यों में महाकवि कालिदास, अमरसिंह,

भामह और दण्डी आदि ने भी नाटक के आठ ही रसों का उल्लेख किया है तथा शान्त रस का प्रतिपादन नहीं किया है। इसके विपरीत उद्‌भट, आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त ने स्पष्ट रूप से शान्त रस का प्रतिपादन किया है।

भक्तिरस (& Erotics in Bhakti)

नौ रसों के अतिरिक्त कुछ आचार्य भक्तिरस को भी अलग रस मानते हैं। इसकी स्थापना धार्मिक क्षेत्र में आधिक्य में देखने को मिलती है। साहित्यशास्त्र में इसकी गणना देवादि–विषयक रति के रूप में भावों में की गयी है। गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय भक्तिरस को अलग रस ही नहीं, अपितु सर्वश्रेष्ठ रस मानते हैं। रूपगोस्वामी जी ने अपने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक ग्रन्थों में भक्तिरस का प्रतिपादन बड़े विस्तार के साथ किया है। कुछ अन्य ग्रन्थ जैसे 'राधासुधानिधि स्तोत्र' इत्यादि में भी भक्तिरस का विशद विवरण दृष्टिगत होता है। वे देवता विषयक रति को तो साहित्यशास्त्रियों के समान 'भाव' ही कहते हैं, किन्तु भक्तिरस का स्थायीभाव केवल श्रीकृष्ण– विषयक रति को मानते हैं। श्रीकृष्ण देवता नहीं अपितु साक्षात् भगवान् हैं। इसलिए तद्विषयक रति, देवविषयक रति से सर्वथा भिन्न है। इसीलिए 'भक्तिरस', 'भाव' के अन्तर्गत नहीं अपितु स्वतन्त्र रस है, ऐसा उनका मत है। उसके आलम्ब्न केवल श्रीराम या श्रीकृष्ण, उद्दीपन भक्तों का समागम, तीर्थसेवन, नदी या एकान्त पवित्र स्थल आदि; भगवान् के नाम तथा लीला का कीर्तन, गदगद हो जाना, अश्रुप्रवाह, कभी नाचना, कभी हँसना या कभी रोना आदि तथा मति, ईर्ष्या–वितर्क आदि व्यभिचारिभाव हैं।

श्रीउज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थ में श्रीलरूपगोस्वामि, चतुर्दश अध्याय– स्थायीभाव–प्रकरण में कहते हैं की– अनुत्पाद्य अतः स्वतः सिद्धभाव को स्वरूप कहते हैं। अनुत्पाद्य का अर्थ है जिसको उत्पन्न नहीं किया जाता। यह – श्रीकृष्णनिष्ठ, ललनानिष्ठ और उभयनिष्ठ भेद से तीन प्रकार का होता है।।35।।

श्रीकृष्णनिष्ठ स्वरूपानुभव सुख स्वतः ही उत्पन्न होता है, श्रीकृष्ण के दर्शन, श्रवण

करने से पहले ही स्वतः स्फूर्त श्रीकृष्ण का अनुभव ललनानिष्ठ और श्रीकृष्ण और गोपी– इन दोनों के स्वरूप जिस प्रकार युगपत् उद्भासित हों वही उभयनिष्ठ स्वरूप हैं।

रति आविर्भाव के उपरोक्त तीन प्रकारों का विवेचन कर, ग्रन्थाकार इस रति के भेद बता रहे हैं, वे आगे कहते हैं की–

साधारणी निगदिता समञ्जसाऽसौ समर्था च।
कुब्जादिषु महिषीषु च गोकुलदेवीषु च क्रमतः।।43।।
मणिवच्चिन्तामणिवत्कौस्तुभमणिवत्त्रिधाभिमता।
नातिसुलभेयमभितः सुदुर्लभा स्यादनन्यलभ्या च।।44।।

अर्थात् – रति तीन प्रकारे की होती है। साधारणी, समञ्जसा और सर्मथा। कुब्जा में साधारणीरति, महिषियों में समञ्जसारति ओर व्रजसुन्दरियों में समर्थारति होती है। कुब्जा की रति मणि की भाँति, महिषियों की रति चिन्तामणि की भाँति और गोपियों की रति कौस्तुभमणि के समान महामूल्यवान है। मणि जैसे अत्यन्त सुलभ नहीं होती है, उसी की भाँति कुब्जादि को छोड़कर साधारणी रति सहज ही सुलभ नहीं होती। चिन्तामणि जैसे अत्यन्त सुदुर्लभ है, उसी प्रकार श्रीकृष्णमहिषियों के बिना यह समञ्जसारति अन्यत्र सुलभ नहीं होती। कौस्तुभमणि जिस प्रकार जगत् में दुर्लभ है, श्रीकृष्ण के बिना अन्यत्र लभ्य नहीं होती, उसी प्रकार गोकुल की देवियों, गोपललनाओं के बिना समर्थारति और कहीं भी प्राप्त नहीं होती।।43–44।।

तत्र साधारणी–

नातिसान्द्रा हरेः प्रायः साक्षाद्दर्शनसंभवा।
संभोगेच्छानिदानेयं रतिः साधारणी मता।।45।।

यथा दशमे (48/9) –

सहोष्यतामिह प्रेष्ठ दिनानि कतिचिन्मया।
रमस्व नोत्सहे त्युक्तुं सङ्गं तेऽम्बुरूहेक्षण।।46।।

अर्थात् – जो रति अत्यन्त गाढ़ी नहीं होती। श्रीकृष्ण के दर्शन होने पर ही आविर्भूत होती है और उसमें सम्भोग की इच्छा ही आदिकारण होती है, उसे साधारणी रति कहते हैं। कुब्जा के घर में उपस्थित होकर उसके सहित विहार के अन्त में अपने घर लौटने की इच्छा करनेवाले श्रीकृष्ण से कुब्जा ने प्रार्थना की–"हे प्राणनाथ! मेरे साथ यहाँ कुछ दिनों तक निवास करो। क्रीडा करो। हे पद्मलोचन! तुम्हारे सङ्ग का त्याग करने की इच्छा नहीं होती।"45–46।।

आगे ग्रन्थाकार कहते हैं की–

असान्द्रत्वाद्रतेरस्याः संभोगेच्छा विभिद्यते।

एतस्या ह्रासतो ह्रासस्तद्धेतुत्वाद्रतेरपि।।47।।

अर्थात् – साधारणीरति में रति की गाढ़ता के अभाव में पृथक् रूप से सम्भोग की इच्छा देखी जा रही है। सम्भोग–इच्छा के ह्रास होने पर रति का भी ह्रास हो जाता है; क्योंकि इस साधारणीरति में सम्भोग की इच्छा ही तो श्रीकृष्ण के प्रति रति उत्पन्न होने का कारण है।।47।।

अब समञ्जसा रति को कहते हैं।

अथ समञ्जसा–

पत्नीभावाभिमानात्मा गुणादिश्रवणादिजा।

क्वचिद्भेदितसंभोगतृष्णा सान्द्रा समञ्जसा।।48

अर्थात्– "मैं इनकी पत्नी हूँ, ये हमारे पति हैं।" अपने विषय में आरोपित यह सम्बन्धविशेषरूप अभिमान ही इसका स्वरूप है। रूप, गुण, चरित्र और कीर्त्तिसमूह के श्रवण से ही इसका उद्भव होता है। कभी–कभी सुरतलालसा जिसमें पृथक् रूप में प्रतीतिगम्य होती है, जो निश्चल निबिड़, प्रगाढ़ होती है, उसी को समञ्जसा रति कहते हैं।।48।।

समञ्जसा रति के उदाहरणार्थ– रुक्मिणी जी ब्राह्मण के द्वारा कामपत्र भेज रही हैं, श्रीकृष्ण को भी कौन कुलवती अपने विवाह के समय श्रीकृष्ण को पति के रूप में

वरण करने की इच्छा नहीं करेगी? यहाँ समञ्जसा रति से सम्भोग इच्छा की पृथकता दिखलाई गई है। ऐसी स्थिति में उस सम्भोग इच्छा से उत्पन्न हाव, भाव, हेलादि के द्वारा अथवा स्वाभियोग प्रकाश के द्वारा श्रीहरि को वशीभूत करना दुःसाध्य होता है।

अथ सर्मथा–

केचिद्विशेषमायान्त्या संभोगेच्छा ययाऽभितः।

रत्या तादात्म्यमापन्ना सा समर्थेति भण्यते।।52।।

स्वस्वरूपात्तदीयाद्वा जातो यत्किंचिदन्वयात्।

समर्था सर्वविस्मारिगन्धा सान्द्रतमा मता।।53।।

अर्थात् – साधारणी और समञ्जसा रति से भी कुछ विशेष सम्भोगेच्छा जिस रति में तादात्म्य होती है अर्थात् नायक–नायिका में ऐक्य–भाव प्राप्त करा देती है, उसी का नाम सर्मथा रति है। और जो स्व–स्वरूप में उदित होने के कारण साधारणी और समञ्जसारति दोनों के सहित, सम्भोगेच्छा को सर्वथा अपने अन्दर तादात्म्य कर लेती है, जिसके उदय की गन्धमात्र से ही कुलधर्म, धैर्य, लज्जादि सभी विघ्न–बाधाएँ विस्मृत हो जाती हैं, जो अत्यन्त घनीभूत होती है, अर्थात् उसमें अन्य कोई भी भाव प्रवेश नहीं कर पाते, उसी को रसशास्त्र में समर्थारति कहते हैं।।52–53।।

समर्थारति के भीतर हृदय में सम्भोग की इच्छा रहती ही है, फिर समञ्जसारति से इसका पार्थक्य क्या है? इसका समाधान करने के लिए कहते हैं की–

रति के साथ सब प्रकार से तादात्म्य होने के कारण समर्थारति से यह विशिष्ट सम्भोगेच्छा कभी भी अलग नहीं होती। इस रति में पृथक् रूप से सम्भोग की इच्छा कभी नहीं होती; क्योंकि समर्थारति वह है जो सर्वापेक्षा अद्भुत, श्रीकृष्ण को वशीभूत करनेवाली होने के कारण आश्चर्यजनक, लीलातिशय के द्वारा महाविस्मयोत्पादन करनेवाली शोभा विशिष्ट होती है। इसलिए समर्थारति में कायमनोवाक्य से निष्पन्न

समस्त व्यापार ही श्रीकृष्ण के सुख केलिए अनुष्ठित हुआ करते हैं। इसमें अपने सुख की लेशमात्र गन्ध भी नहीं होती, वह रति कभी भी सम्भोगेच्छा विशेष से पृथक् नहीं होती, पृथक् भाव से उसकी प्रतीति भी गोचर नहीं होती। इसलिए समर्थारति में केवल श्रीकृष्णसुख के लिए ही सभी उद्यम होते हैं।।55।। उधर समञ्जसा रति यद्यपि निश्चल, निविड़, तथा प्रगाढ़ होती है, इसमें सम्भोगेच्छा कभी–कभी रति से पृथक् प्रतीत हो सकती है और अपने विषय में आरोपित पत्नीत्व–भोग्यात्व का अभिमान ही इसका स्वरूप है अतः उससे उत्पन्न हाव–भाव हेलादि के द्वारा अथवा स्वाभियोग प्रकाश के द्वारा श्रीकृष्ण को वशीभूत करना दुःसाध्य होता है। जैसा ऊपर उल्लेख किया गया है जो रति अत्यन्त गाढ़ नहीं होती और जिसमें सम्भोगेच्छा ही कारण है उसे 'साधारणीरति' कहते हैं– इसमें सम्भोगेच्छा का ह्रास होने के बाद रति का भी ह्रास हो जाता है। **साधारणी रति कुब्जा में, समञ्जसा रति रूक्मिणी में, और समर्था रति गोपियों में पाई जाती है।**

सर्वाद्भुतविलासोर्मिचमत्कारकरश्रियः।
संभोगेच्छाविशेषोऽस्या रतेर्जातु न भिद्यते।
इत्यस्यां कृष्णसौख्यार्थमेव केवलमुद्यमः।।55।।

आगे ग्रन्थाकार कहते हैं–

पूर्वस्यां स्वसुखायापि कदाचित्तत्र संभवेत्।।56।।
इयमेव रतिः प्रौढा महाभावदशां व्रजेत्।
या मृग्या स्याद्विमुक्तानां भक्तानां च वरीयसाम्।।57।।

अर्थात् – समञ्जसारति में पृथक् रूप में कभी–कभी अपने सुख के लिए (सम्भोगेच्छा रूप) उद्यम देखा जाता है; क्योंकि उसमें पत्नी का अभिमान सदासर्वदा व्याप्त रहता है। किन्तु समर्थारति में वह कहीं नहीं है। समर्थारति ही प्रौढ़ावस्था को प्राप्त कर महाभाव दशा को प्राप्त करती है। इसलिए विमुक्तगण और प्रधान–प्रधान भक्तजन इस समर्थारतिका ही अन्वेषण करते हैं, किन्तु प्राप्त नहीं कर पाते।।56–57।।

(श्रीउज्ज्वलमणिः, श्रीलरुपगोस्वामिना प्रणीतः, गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन, प्रथम संस्करण, अक्टूबर, 2006, स्थायिभाव–प्रकरणम्, पृ. 651–675)।

इसी प्रकार श्रीहितहरिवंश जी कृत श्रीराधासुधानिधिस्तोत्र ग्रंथ में श्रीराधा और श्रीकृष्ण के ऐक्य का निरूपण शृङ्गार रस और भक्तिरस की परम अवस्था का ही निदर्शन है। शृङ्गार रस में मधुरा रति ही रसस्वरूपता को आस्वादनीय बनाती है। आस्वादन में जो हेतु है वह विभाव नाम से जाना गया है, जिसके दो भेद हैं– आलम्बन और उद्दीपन; आलम्बन के दो भेद हैं– विषयालम्बन और आश्रयलम्बन; रसास्वादन के लिए दोनों ही अपेक्षित हैं। ''रस्यते आस्वाद्यते इति रसः।'' जो आस्वाद्य है, वह रस है। ''रसयति आस्वादयति इति रसः''। जो आस्वादक है, वह रस है। इस प्रकार विषयालम्बन (आस्वाद्य), आश्रयालम्बन (आस्वादक) दोनों की रसरूपता सिद्ध होती है और ये रस ही यहाँ नित्य क्रीडायमान है। श्रीहित ध्रुवदासजी के शब्दों में– ''नायक तहाँ न नायिका, रस करवावै केलि''। यहाँ नायक–नायिका में मुख्य–गौण भाव नहीं है, मुख्यता मात्र रस की है और इस रस की (नायक, नायिका) दोनों में ही निष्पत्ति और अनुभूति होती है। आस्वादन की दृष्टि से कहीं नायक 'विषयालम्बन' है तो कहीं नायिका, कहीं नायक 'आश्रयालम्बन' है तो कहीं नायिका अथवा दोनों ही विषयालम्बन है व दोनों ही आश्रयालम्बन हैं, तभी दोनों में एक ही रूचि है, एक ही अवस्था है, एक ही प्रकार की परस्पर प्रीति है; दोनों का शील एक–सा है, और एक–सा ही मृदुल स्वभाव है, केवल रस–विलास के लिए दो देह धारण किए हैं, ऐसा श्रीराधा और श्रीकृष्ण का परस्पर ऐक्य रूप रसास्वादन है। जैसा कि श्रीध्रुवदासजी कृत रति–मञ्जरी में आया है– ''एक रंग रूचि एक वय एकै भाँति स्नेह। एकै शील सुभाव मृदु, रस के हित दो देह।''

श्रीहिताचार्यजी की वाणी में–

जोई जोई प्यारो करै सोई मोहि भावै, भावै मोहि जोई सोई–सोई करैं प्यारे।

मोकों तौ भावती ठौर प्यारे के नैनन में, प्यारौ भयौ चाहै मेरे नैनन के तारे।। मेरे–तन प्रान हुँतें प्रीतम प्रिय, अपने कोटिक प्रान प्रीतम मोसों हारे। 'जैश्री हित हरिवंश' हंस–हंसिनी साँवल गौर, कहौ कौन करै जल–तरंगन न्यारे।।

यहाँ प्रस्तुत पद में श्रीप्रिया–प्रियतम दोनों में ही विषय व आश्रय की अद्‌भुत स्थिति है। 'दोनों' दोनों के विषय हैं, 'दोनों' दोनों के आश्रय हैं। ऐसी स्थिति वस्तुतः हो जाती है। अतः हम देखते हैं कि रसमार्गी उपासक केलिए श्रीराधा और श्रीकृष्ण दोनों में समान रति की स्थापना होती है और इस सिद्धान्त को प्रायः सभी रसमार्ग के आचार्यों ने स्वीकार किया है। तथापि श्रीराधा जी में विषय व श्रीकृष्ण में आश्रय की स्थिति एकाङ्गी प्रेम आस्वाद दृष्टि से है। श्रीहित परम्परा में ''राधा चरण प्रधान हृदै अति सुदृढ़ उपासी'' 'श्रीराधा' विषयालम्बन हैं। गौड़ीय परम्परा में 'श्रीकृष्ण' विषयालम्बन हैं–

''असमोर्ध्व सौन्दर्य लीलावैदग्ध्य सम्पदाम्। आश्रयत्वेन मधुरे हरिरालम्बनो मतः''।।

तत्त्वतः दोनों ही 'विषयालम्बन' हैं व दोनों ही 'आश्रयालम्बन' हैं और यही युगल भक्जनों के सेव्य हैं। उदाहरणार्थ भक्तिरस में रसानुभूति की पराकाष्ठा में श्रीराधासुधानिधि स्तोत्र ग्रंथ में भक्त कहता है–

यदि स्नेहाद् राधे दिशसि रतिलाम्पटयपदवीम्
गतं मे स्वप्रेष्ठं तदपि मम निष्ठां शृणु यथा।
कटाक्षैरालोके स्मितसहचरैर्जातपुलकम्
समाश्लिष्याम्युञ्चैरथ च रसये त्वत्पदरसम्।।87।।

अर्थात् – हे श्रीराधे! यदि आप कभी स्नेह से रति–लम्पटता की स्थिति पर पहुँचे हुए अपने कान्त को दान में मुझे देंगी, तब मेरी निष्ठा–स्थिति को सुनिये– मैं मुस्कराती हुई अपने कटाक्षों से प्रियतम को देखूँगी और इतने से ही उनके शरीर में रोमाञ्च हो जाएगा; उसके बाद उनका गाढ़ आलिङ्गन भी करूँगी, जिससे उनकी प्रेम–विह्वलता बढ़ेगी किन्तु यह सब होने पर भी मुझे आपके चरणकमलों के ही रस का अनुभव होगा।।87।।

यज्जापः सकृद् एव गोकुलपतेराकर्षकस्तत्क्षणाद्

यत्र प्रमेवतां समस्तपुरुषार्थेषु स्फुरेत् तुच्छता।

यन्नामाङ्कितमन्त्रजापनपरः प्रीत्या स्वयं माधवः

श्रीकृष्णोऽपि तदद्भुतं स्फुरतु मे राधेति वर्णद्वयम्।।94।।

अर्थात्– 'राधा' ये दो अक्षर मेरे हृदय में स्फुरित हों, जिसका एकबार का उच्चारण ही गोकुलपति कृष्ण को आकर्षित करता है; जिससे 'धर्म–अर्थ–काम–मोक्ष' चतुष्ट्य पुरुषार्थ भी तुच्छ लगते हैं, जिस नाम से अंकित मन्त्रराज का जाप स्वयं श्रीकृष्ण भी तत्परतापूर्वक करते हैं।।94।।

या वाराधयति प्रियं व्रजमणिं प्रौढ़ानुरागोत्सवैः

संसिध्यन्ति यदाश्रयेण हि परं गोविन्दसख्युत्सुकाः।

यत् सिद्धिः परमापदैकरसवत्याराधनात्ते नु सा

श्रीराधा श्रुतिमौलिशेखरलता नाम्नी मम प्रीयताम्।।97।।

अर्थात्– जिस प्रकार 'श्रीकृष्ण' श्रीराधा का आराधन करते हैं, उसी प्रकार 'श्रीराधा' प्रकृष्ट अनुराग के उल्लास से भरी हुई अपने प्रियतम 'श्रीकृष्ण' का आराधन करती हैं। गोविन्द के साथ सखीभाव पाने के उत्सुक भक्तजन भी जिनके आश्रय से ही इष्ट–सिद्धि प्राप्त करते हैं, जिनकी आराधना से परमपद रूपा रस–सिद्धि प्राप्त होती हे, वही 'श्रीराधा' नाम वाली श्रुतियों के मस्तक पर शोभित लता मुझ पर प्रसन्न हो जाए।।97।। (श्रीराधासुधानिधिस्तोत्र)

अतः उपरोक्त उद्धृत श्लोकों से यह स्पष्ट है कि श्रीराधा और श्रीकृष्ण का ऐक्य और परम भक्त को इस ऐक्य के साक्ष्य से ही परमपद महाभाव दशा की प्राप्ति, और फलतः भक्तिरस–सिद्धि प्राप्त होती है।

वात्सल्यरस

कुछ आचार्य 'वात्सल्यरस' को भी अलग रस मानते हैं। साहित्यशास्त्र के आचार्यों में साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ जी ने विशेषतया स्वतन्त्र रस के रूप में

वात्सल्यरस को प्रतिष्ठित किया है। तुलसी और सुर की रचनाओं में भी इस रस का विशेष प्रभाव दिखलाई देता है। छोटों के प्रति स्नेह वात्सल्यरस का स्थायिभाव है। छोटे बालक आलम्बन विभाव, बालकों की तोतली बोली, सौन्दर्य, क्रीडा आदि उद्दीपन और स्नेह से गोद में ले लेना, आलिङ्गन, चुम्बन आदि व्यभिचारी भाव हैं। साहित्यशास्त्र के अधिकांश आचार्य भक्ति और वात्सल्य इन दोनों को अलग रस नहीं मानते, क्योंकि उनके आधारभूत स्थायिभाव कोई मौलिक स्थायिभाव नहीं हैं। वे सब स्नेह के ही रूपान्तरमात्र हैं। विभिन्न लिङ्गक और समवयस्क व्यक्तियों का परस्पर स्नेह 'रति' कहलाता है। उत्तम या बड़े का छोटे के प्रति स्नेह 'वात्सल्य' और छोटे का बड़े के प्रति स्नेह 'भक्ति' या 'श्रद्धा' कहलाता है। इसी प्रकार समलिङ्ग और समवयस्क व्यक्तियों का स्नेह 'मैत्री' और चेतन का अचेतन के प्रति स्नेह लोभ कहलाता है। यह सब 'रति' के ही समानान्तर हैं। अलग तात्त्विक मूल स्थायिभाव नहीं है। इसलिए ऐसे साहित्यशास्त्रियों ने 'भक्ति' तथा 'वात्सल्य' को अलग रस नहीं माना है, अपितु उनकी गणना भावों में की है। देवादिविषयक रति को 'भाव' कहते हैं। अतः ऐसे साहित्यशास्त्र के आचार्यों के अनुसार 'भक्ति' एवं 'वात्सल्य' दोनों 'भाव' हैं, रस नहीं। उनको भक्ति–भाव तथा वात्सल्य–भाव कहना चाहिये, रस नहीं कहना चाहिये। मूलरस–यद्यपि विभिन्न आचार्यों ने आठ से लेकर ग्यारह तक रसों की संख्या मानी है, किन्तु इनमें भी अनेक आचार्यों ने प्रधानता और अप्रधानता की दृष्टि से अलग–अलग मूल रसों की कल्पना की है। स्वयं भरतमुनि आठ रसों में से शृङ्गार, रौद्र, वीर तथा वीभत्स इन चार रसों को प्रधान मानकर शेष चार रसों की उत्पत्ति इन चार से ही होती है, इस बात का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं–

शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिः, वीभत्साच्च भयानकः।।
शृङ्गारानुकृतिर्यातु, सा हास्यस्तु प्रकीर्तितः।

रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः।।

वीरस्यापि च यत् कर्म सोऽद्भुतः परिकीर्तितः।

वीभत्सदर्शनं यत्र ज्ञेयः स तु भयानकः।।

एकरसवाद

इसी प्रकार अपनी–अपनी दृष्टि से किसी एक ही विशेष रस को मूल रस मानने की प्रवृत्ति भी साहित्यशास्त्र में पायी जाती है। इस विषय में कुछ मतों के उद्धरण इस प्रकार हैं।

(1) महाकवि भवभूति ने करुणा रस को एकमात्र रस बतलाते हुए अपने करुणरस–प्रधान नाटक 'उत्तररामचरित' में लिखा है–

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्

भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विर्वतान्।

आवर्त–बुद्बुद–तरङ्गमयान् विकारान्

अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्।। (उत्तररामचरित–3)

(2) भोजराज ने (12वीं शताब्दी) अपने ग्रंथ 'शृङ्गारप्रकाश' में शृङ्गार रस को ही एकमात्र मूल रस बताते हुए लिखा है – शृङ्गार–वीर–करुणाद्भुत – रौद्र–हास्य–वीभत्स–वत्सल–भयानक–शान्तनाम्नः।

आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वयं तु शृङ्गारमेव रसनाद् रसभामनामः।।

(3) साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ जी ने अपने पूर्वज नारायणपण्डित के केवल अद्भुत रस को ही मूल रस मानने का उल्लेख करते हुए लिखा है–

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।

तञ्चमत्कारसारत्वात् सर्वत्राप्यद्भुतो रसः।।

तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्।

(4) अभिनवगुप्तपादाचार्य ने शान्तरस को ही एकमात्र मूलरस प्रतिपादन करते हुए अपने ग्रंथ 'अभिनवभारती' में लिखा है–

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते।

पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते।।

रसों की सुख–दुःखरूपता

रसों की अलौकिकता के साथ उनकी सुख–दुःख रूपता का प्रश्न भी प्राचीन साहित्यशास्त्रियों के लिए एक विवेचनीय प्रश्न रहा है। इस विषय में मतों में भेद दिखते हैं। कुछ आचार्य जैसे– धनिक, धनञ्जय ओर विश्वनाथ आदि सभी रसों को नितान्त सुख–रूप मानते हैं। इन आचार्यों ने करुणरस को भी सर्वथा सुखात्मक रस माना है। इसके विपरीत अभिनवगुप्तपादाचार्य ने प्रत्येक रस को उभयात्मक रस माना है, अर्थात् प्रत्येक रस में सुख और दुःख, दोनों का समावेश रहता है। किन्तु इनमें से शृङ्गार, हास्य, वीर तथा अद्भुत इन चार रसों में सुख की प्रधानता के साथ दुःख का अनुवेध रहता है। इसके विपरीत रौद्र, भयानक, करूण तथा वीभत्स इन चार रसों में दुःख की प्रधानता के साथ सुख का आंशिक अनुवेध रहता है। केवल शान्तरस को उन्होंने सर्वथा सुखात्मक रस माना है। रसों के विषय में नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र–गुणचन्द्र का मत इन दोनों से भिन्न प्रकार का है। इन्होंने न सब रसों को सुखात्मक ही माना है और न सब रसों में सुख–दुख दोनों का समावेश ही माना है। उन्होंने रसों को अलग–अलग दो विभागों में विभक्त कर दिया है, जिनमें से शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त, इन पाँच रसों को सर्वथा सुखात्मक और करुण, रौद्र, वीभत्स तथा भयानक इन चार रसों को सर्वथा दुःखात्मक रस बतलाया है।

शृङ्गार रस और उसके भेद–

शृङ्गार रस के दो भेद होते हैं– (1) सम्भोग (शृङ्गार) और (2) विप्रलम्भ। सम्भोग शृङ्गार परस्पर अवलोकन, आलिङ्गन, अधरपान, चुम्बन आदि अनन्त प्रकार का (असंख्येय हो जाता है) इसलिए उसके भेदों की गणना सम्भव न होने से एक ही गिना जाता है।

उदाहरणार्थ, यथा–

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय
किञ्चिच्छनैर्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता।।

अर्थात् – (पति के बराबर अलग पलंगपर लेटी हुई नवोढ़ा नायिका ने) वासगृह (अर्थात् अपने विश्राम के कमरे) को शून्य (अर्थात् सखियों से खाली) देखकर अपनी शय्या पर से तनिक–सा उठकर और नींद का बहाना करके लेटे हुए पति के मुख को बहुत देर तक देखकर (ये सो रहे है। ऐसा समझकर) निश्शङ्क भाव से चुम्बन कर लेने से (अपने) पति के कपोल पर (प्रसन्नताजन्य) रोमाञ्च देखकर (नायिका यह समझ गयी कि उसके पति जग रहे थे। इसलिए उसका मुख लज्जा से झुक गया। उस) लज्जा से नम्र–मुखवाली बाला को (पकड़कर) हँसते हुए प्रियतम (नायक) ने बहुत देर तक चुम्बन किया।। यह सम्भोग शृङ्गार रस का उदाहरण है। नायक इसका आलम्बन है, शून्य वासगृह उद्दीपन विभाव है। मुख–निर्वर्णन, चुम्बनादि अनुभाव तथा लज्जा हास तथा उससे व्यङ्ग्य हर्षादि व्यभिचारिभाव हैं। रति स्थायिभाव है। उससे समाजिकों को रस की चर्वणा होती है। यहाँ सम्भोग शृङ्गार रस के इस उदाहरण में, नायिका की प्रथम अनुरक्ति दिखलायी गयी है। आचार्य मम्मट ने यह पद्य 'अमरुक–शतक' से उद्धृत किया है। हिन्दी के महाकवि बिहारीलाल ने अमरूक के इस पद्य का छायानुवाद एक दोहे में इस प्रकार किया है–

हौ मिसहा सोयो समुझि मुख चूम्यों ढिग जाय।
हस्यों, खिसानी, गर गह्यो, रही गले लपटाय।।

अमरुक के इस लम्बे पद्य के भाव को उपरोक्त दोहे के छोटे से कलेवर में भरकर बिहारी जी ने अपने अद्भुत कौशल और अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है।

आगे सम्भोग शृङ्गार रस के एक अन्य उदाहरण से नायक की अनुरक्ति का प्रदर्शन करते हुए, काव्यप्रकाश में कहा गया है–

त्वं मुग्धाक्षि विनैव कञ्चुलिकया धत्से मनोहारिणीं
लक्ष्मीमित्यभिधायिनि प्रियतमे तद्वीटिकासंस्पृशि।
शय्योपान्तनिविष्टसस्मित–सखीनेत्रोत्सवनन्दितो
निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः।।

अर्थात– हे सुन्दर नेत्रों वाली प्रियतमे! तुम तो बिना कञ्चुकी धारण किये हुए ही बड़ी सुन्दर मालूम होती हो, ऐसा कहकर नायक को उसके बटन को खोलने केलिए छूते देख शय्या के पास बैठी हुई मुस्कराती हुई, सखी के नेत्रों की प्रसन्नता से आनन्दित हुई अन्य सखियाँ किसी (आवश्यक काम का) झूठा बहाना करके धीरे–धीरे कमरे से निकल गयीं।। यह श्लोक भी अमरूक–शतक से लिया गया है। सम्पूर्ण रूप से आलिङ्गन करने का लोभी अतएव व्यवधान करनेवाली कञ्चुकी को हटाने में तत्पर नायक का यह वर्णन है। यहाँ मुग्धाक्षी आलम्बन विभाव है। नयन–सौन्दर्य, अङ्ग–शोभा आदि उद्दीपन विभाव हैं। आभाषण और वीटिका–संस्पर्श अनुभाव तथा उनकी तुल्यकालता से अवगत उत्कण्ठा आदि व्यभिचारिभाव हैं। इस सब सामग्री के द्वारा सामाजिक को रसकी अनुभूति होती है। महाकवि बिहारी जी ने उपरोक्त इस अमरूक के पद्य का भी अनुवाद अपने इस दोहे में बखूबी किया है–

पति रतिकी बतियाँ करीं सखी लखी मुसकाय।
कै कै सबै टला–टली अली चलीं सुख पाय।।

यहाँ उपरोक्त पद्य के शार्दूलविक्रीडित छन्द के सम्पूर्ण भाव को दोहे के छोटे से कलेवर में भर देने का बिहारी जी का कौशल द्रष्टव्य है।

दूसरे प्रकार का शृङ्गाररस का भेद विप्रलम्भ कहलाता है। जैसा कि काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास की का. 29, सू. 44 में कहा गया है कि – तत्र शृङ्गारस्य द्वौ भेदौ, सम्भोगो विप्रलम्भश्च। तत्राद्यः परस्परावलोकन–आलिङ्गन

अधरपान– परिचुम्बनाद्यानन्तभेदत्वादपरिच्छेद्य इत्येक एव गण्यते। (पृ. 121)। आगे काव्यप्रकाशकार कहते हैं– अपरस्तु अभिलाष–विरह–ईर्ष्या–प्रवास– शापहेतुक इति पञ्चविधः (पृ. 123)। अर्थात् दूसरा श्रृङ्गार रस का भेद (अर्थात् विप्रलम्भ श्रृङ्गार) अभिलाष, ईर्ष्या, विरह, प्रवास तथा शाप (रूप पाँच प्रकार के हेतुओं) से होने के कारण पाँच प्रकार को होता है। इन पाँचों के उदाहरण इस प्रकार हैं। क्रमशः (इन पांचों के) उदाहरण (आगे देते हैं)–

साहित्यदर्पणकार आदि अन्य कुछ आचार्यों ने इस विप्रलम्भ के चार ही भेद माने हैं–

पूर्वानुराग–मानाख्य–प्रवास–करुणात्मना।
विप्रलम्भाभिधानोऽयं श्रृङ्गार स्याच्चतुर्विधः।।

मम्मट का अभिलाष उपरोक्त पूर्वराग का तथा ईर्ष्या मानका नामान्तर है। प्रवास दोनों जगह समान है। शाप के स्थान पर यहाँ करुण है। पर विरह का यहाँ कोई उल्लेख नहीं है। इन पाँचों भेदों में से सबसे पहिले अभिलाष या पूर्वराग का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। पूर्वराग या अभिलाष का आभिप्राय उन व्यक्तियों के राग या अभिलाष से है जिनको समागम का अवसर प्राप्त नहीं हुआ है। समागम हो जाने के बाद जो कादाचित्क समागम का अभाव हो जाता है उसको 'विरह' कहते हैं। यह 'विरह' उन दोनों में से एक के अनुराग–शून्य होने पर भी हो सकता है और गुरुजनों से लज्जा आदि के कारण समागम न होने पर भी हो सकता है। इन सबका अन्तर्भाव 'विरह' के भीतर ही होता है। प्रवास–हेतुक और शाप–हेतुक दीर्घतर विरह उस–उस नामके विप्रलम्भ श्रृङ्गार में आते हैं। समीप रहने पर भी मान निमित्तिक समागम का अभाव, 'ईर्ष्या' भेद के अन्तर्गत होता है। इस प्रकार यह पाँच प्रकार के विप्रलम्भ श्रृङ्गार का प्रतिपादन किया गया है। इन पाँच प्रकार में सबसे पहले अभिलाष या पूर्वराग का उदाहरण 'मालतीमाधव' नामक संस्कृत नाटक से उद्धृत है।

यथा–

प्रेमार्द्राः प्रणयस्पृशः परिचयादुद्गाढरागोदयास्तास्ता मुग्धदृशो निसर्गमधुराश्चेष्टा भवेयुर्मयि।

यास्वन्तःकरणस्य वाह्यकरणव्यापाररोधी क्षणादाशंसापरिकल्पितास्वपि भवत्यानन्दसान्द्रो लयः।।

अर्थात्– उस सुन्दर नेत्रोंवाली मालती की प्रेम से आद्र हुई, प्रणय का स्पर्श करनेवाली तथा परिचय के कारण उद्गाढ़ (अर्थात् गुरुजन आदि के प्रतिबन्ध की भी चिन्ता न करने वाले) अनुराग से भरी हुई इस प्रकार की वे–वे भाव पूर्व चेष्टाएँ मेरे प्रति हों, जिनकी (इस समय अपने मन में) कल्पना करने पर भी तत्क्षण बाह्य इन्द्रियों को व्यापार–शून्य बना देनेवाला अन्तःकरण का आनन्दमय लय–सा हो जाता है (अर्थात् जिन चेष्टाओं की कल्पनामात्र से इस समय सब–कुछ सुध–बुध भूलकर मन आनन्दसागर में लीन हो जाता है।)।।

यह विप्रलम्भ शृङ्गार के अभिलाष या पूर्वराग भेद का उदाहरण है। इसके बाद विरह या समागम के बाद गुरुजनों की लज्जा आदि के कारण समागम में विलम्ब होने पर विकलता के प्रदर्शन करानेवाला उदाहरण दिया गया है। इसमें रात्रि को नायक के आगमन की प्रतीक्षा में शय्या पर लेटी हुई नायिका की विकलावस्था या विरह का वर्णन किया गया है। यहां नायिका कह रही है कि–

अन्यत्र व्रजतीति का खलु कथा नाप्यस्य तादृक् सुहृद्
ये मां नेच्छति नागतश्च हह्हा कोऽयं विधेः प्रक्रमः।
इत्यल्पेतरकल्पनाकवलितस्वान्ता निशान्तान्तरे
बाला वृत्तविवर्त्तनव्यतिकरा नाप्नोति निद्रां निशि।।

एषा विरहोत्कण्ठिता।

अर्थात् – वे कहीं और (किसी अन्य स्त्री के पास) चले गये हैं, यह तो (कुत्सित कथा) कुविचार है। (ऐसा तो कभी सम्भव हो ही नहीं सकता है। शायद

किसी मित्र के कहने से कहीं चले गये हों, यह शंका भी नहीं बनती है क्योंकि) उनका ऐसा कोई मित्र भी नहीं है जो मुझको न चाहता हो (अर्थात् मेरा अहित चिन्तन करता हो और उनको बहकाकर कहीं ले जाय), फिर भी वे (अब तक) आये नहीं, यह भाग्य का कैसा खेल है। इस प्रकार की अनेक कल्पनाओं के हृदय में व्याप्त हो जाने से वह बिचारी (बाला) करवटें बदलती हुई (वृत्तः सञ्जातः विवर्तानां पार्श्वपरिवर्तनानां व्यतिकरः सम्बन्धः समूहो वा यस्याः सा वृत्तविवर्तनव्यतिकरा) रात को सो नहीं पा रही है।। (अधिक रात तक गुरुजन आदि के पास बैठे रहने के कारण, सङ्कोचवश उसका पति उसके पास नहीं आ रहा है, इसलिए) यह विरहोत्कण्ठिता है।

आगे ईर्ष्या–हेतुक विप्रलम्भ श्रृङ्गार का तीसरा उदाहरण 'अमरुक–शतक' से इस प्रकार है। इसमें किसी नवोढ़ा की सखी उसकी अवस्था को किसी अन्य सखी को सुनाकर कह रही है–

सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना
नो जानाति सविभ्रमाङ्गवलनावक्रोक्तिसंसूचनम्।
स्वच्छैरच्छकपोलमूलगलितैः पर्यस्तनेत्रोत्पला
बाला केवलमेव रोदिति लुठल्लोलालकैरश्रुभिः।।

अर्थात्– वह पति के (अन्यस्त्री–प्रसङ्गरूप) प्रथम अपराध के समय सखियों के बतलाये बिना हाव–भाव से अङ्ग को चलाकर वक्रोक्तियों से उलाहना देना नहीं जानती है। इसलिए खुले हुए और चञ्चल अलकों से उपलक्षित और (पर्यस्तनेत्रोत्पला परितः अस्ते क्षिप्ते नेत्रोत्पले यया सा पर्यस्तनेत्रोत्पला अर्थात्) आँखों को इधर–उधर करती हुई वह बिचारी (बाला) स्वच्छ गालों के किनारे के आँसू टपकाती हुई केवल रोती ही रहती है।। यहाँ नायक के परस्त्री सम्बन्ध को देखकर उत्पन्न ईर्ष्या के कारण यह विप्रलम्भ श्रृङ्गार का उदाहरण दिया गया है।

आगे प्रवास–हेतुक विप्रलम्भ–शृङ्गार का उदाहरण देते हैं। यह श्लोक भी 'अमरूक–शतक' से लिया गया है। किसी स्त्री का पति गुरुजनों के आदेश आदि के कारण दीर्घ–प्रवास पर विदेश जा रहा है। यह समाचार सुनकर वह अपने जीवन को सम्बोधन करके कह रही है की–

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं

धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः।

यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिताः

गन्तव्ये सति जीवित! प्रियसुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते।।

अर्थात् – हे जीवन (हे प्राणों) प्रियतम के (प्रवासपर) जाने का निश्चय कर लेने पर (कङ्कण पहिले ही चल दिये अर्थात् मेरे शरीर में दुर्बलता आ जाने से कङ्कणों ने अपना स्थान छोड़ दिया और ढ़ीले पड़कर नीचे गिर गये हैं) और प्रिय को प्यार करनेवाले आँसू तबसे ही निरन्तर बहे जा रहे हैं। धृति तनिक देर भी नहीं रूकी ओर चित्त ने उनके आगे–आगे जाने का निश्चय कर लिया है। हे प्राणों! तुम्हें भी जाना ही है, तब प्रिय मित्र का साथ क्यों छोड़ रहे हो। (तुम भी शरीर से निकल चलो)।।

यह प्रवास–हेतुक विप्रलम्भ शृङ्गार का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। आगे शाप–हेतुक विप्रलम्भ–शृङ्गार का उदाहरण कालिदास के मेघदूत से उद्धृत किया जा रहा है।

यथा–

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायामात्मानं

ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम।

अस्रैस्तावन्मुहुरूपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे

क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः।।

अर्थात्– पत्थर की शिला पर गेरू आदि धातु के रंगों से तुम्हारा चित्र

बनाकर मैं जबतक (चित्र में) अपने को तुम्हारे चरणों में गिरा हुआ करना चाहता हूँ, तबतक आँसू फिर बढ़कर मेरी दृष्टि को आच्छादित कर लेते हैं। (और मै। उस चित्र को पूर्ण नहीं कर पाता हूँ)। निष्ठुर 'दैव' उस (चित्र) में भी हमारे सङ्गम को सहन नहीं करता है।।

इस प्रकार सम्भोग–शृङ्गार के दो भेद और विप्रलम्भ–शृङ्गार के पांचों भेदों के पाँच, कुल मिलाकर शृङ्गार रस के सात उदाहरण यहाँ भी मम्मटाचार्य ने अपने ग्रंथ 'काव्यप्रकाश' में दिये हैं। (द्रष्टव्य : काव्यप्रकाश, व्याख्याकार : आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि, सम्पादक : डॉ. नगेन्द्र, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, प्रथम संस्करण, संवत् 2017 वि., 1960, पृ. 115–126, चतुर्थ उल्लासः, का. 29, सू. 44)

शृङ्गार शब्द की व्युत्पत्ति

जिस प्रकार अन्यान्य शब्दों का प्रयोग लोक में अन्य अर्थों में भी होता है, इसी प्रकार शृङ्गारादि शब्द शृङ्गार रस के विषय में ही मुख्य रूप से प्रयुक्त होते हैं। और लोक में शृङ्गार आदि केलिए उज्ज्वल वेष आदि अर्थ औपचारिक रूप से प्रयुक्त होते हैं। जैसे नाट्यशास्त्र के 'पूर्वरङ्ग' शब्द का लोक में 'भूमिका' अर्थ में प्रयोग होता है। इसी प्रकार शृङ्गारादि शब्द मुख्य रूप से शृङ्गार रस के वाचक होते हैं। लोक व्यवहार से औपचारिक रूप से उज्ज्वल वेष आदि अर्थों में भी उनका प्रयोग हो जाता है। परन्तु उज्जवल वेष आदि रूप, अर्थ, शृङ्गारादि शब्दों के मुख्यार्थ नहीं हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि– जो (शंकुक आदि कोई प्राचीन व्याख्याकार) मत्वर्थीय (आरकन् प्रत्यय) से शृङ्गार–शब्द की व्युत्पत्ति करते हैं उनको तो (शृङ्गार–पद का) स्वरूप भी ध्यान में नहीं रहा है। (क्योंकि उस 'शृङ्–वृन्दाभ्यामारकन्' वार्तिक के द्वारा तो) इस (शृङ्ग शब्द) से 'आरकन्' प्रत्यय (का विधान) किया गया है, (शृङ्ग–शब्द से आरकन्–प्रत्यय करने पर तो

शृङ्गार–शब्द नहीं अपितु शृङ्गारक–शब्द बनेगा) जैसे 'वृन्द' से 'वृन्दारक' शब्द बनता है। अत एव उस वार्तिक के द्वारा शृङ्गार–शब्द की सिद्धि नहीं हो सकती है। इसीलिए (शृङ्गार–भृङ्गारौ' उणादि सूत्र से) उणादि में इस शब्द को निपातित माना गया है। (पृ. 538–539, अभिनवभारती, हिन्दी, डॉ. नगेन्द्र, षष्ठोऽध्यायः)

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के शृङ्गाररसप्रकरण के प्रारम्भ में कहा है– 'तत्र शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभव उज्ज्वलवेषात्मक'। अर्थात् उनमें से रति रूप स्थायिभाव से उत्पन्न उज्ज्वलवेषात्मक शृङ्गार रस होता है। क्योंकि संसार में जो कुछ शुद्ध पवित्र उज्ज्वल और दर्शनीय होता है उसकी शृङ्गार के साथ उपमा दी जाती है। और जो उज्ज्वल वेष होता है वह शृङ्गारवान् (शृङ्गारी पुरुष) कहलाता है। परन्तु अभिनवगुप्तपादाचार्य अभिनवभारती में इस मत को असङ्गत कहते हैं। वे कहते हैं की इसका यहाँ यह अर्थ होता है कि आस्वादन की जाती हुई रति ही मुख्य रूप से शृङ्गार शब्द का अर्थ है। रति का आस्वादन करने वालों (सामाजिकों) के द्वारा उस रति के उपभोग में विशेष रूप से आसक्त नायकादि को 'शृङ्गारी' कहा जाता है। (पृ. 535, 536) और उस आस्वाद्यमान रति के आस्वादन में यथायोग्य विभावादि उपयोगी, होते हैं। शास्त्र में अनिषिद्ध, अनिन्दित और मनोहर जो उज्ज्वलवेषादि रूप वस्तु है वह भी गौण रूप से शृङ्गार–शब्द से कहा जाता है। शृङ्गार–शब्द का मुख्य रस रूप वाच्यार्थ उस उज्ज्वल वेष में नहीं है यह यहाँ सूचित किया है। इसलिए वह उज्ज्वल वेष वाला शृङ्गारवान् होता है इत्यादि प्रयोग में उज्ज्वल वेष में शृङ्गार–शब्द औपचारिक रूप से प्रयुक्त होता है। आगे (पृ. 540–541) पर, उपरोक्त 'रतिस्थायि' इत्यादि सूत्र भाग को स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्तपादाचार्य कहते हैं की – स्त्री–पुरुष शब्द से परस्पर अभिलाष तथा सम्भोग की लक्षणा द्वारा 'यह इसकी स्त्री है' इस प्रकार की लौकिक बुद्धि का ग्रहण होता है। **इसलिए (केवल एकपक्षीय, सम्भोग रहित) अभिलाष मात्र से युक्त कामावस्था में (विद्यमान स्त्री अथवा पुरुष किसी में) रहने वाली व्यभिचारिभाव–रूपिणी जो**

रति उससे भिन्न (परस्परानुरक्त दम्पति की सम्भोग युक्त) यह स्थायिभाव रूपा, प्रारम्भ (अर्थात् अनुराग) से लेकर (सम्भोगादि रूप) फलपर्यन्त रहने वाली, परिपूर्ण सुख को देने वाली रति इस शृङ्गार रस का हेतु होती है। इस प्रकार (काव्य नाटक इत्यादि में इस शृङ्गार रस को उपस्थित करने वाला) कवि स्वयं लौकिक रति की वासना से युक्त होकर विभावादि को इस प्रकार से उपस्थित करता है और नट उसको इस प्रकार से अनुभव कराता है कि जिससे रति का आस्वादन होने पर शृङ्गाररस अनुभूत होने लगता है। आस्वादयिता (अर्थात् सामाजिक) का भी पूर्वकालीन रति–संस्कार (शृङ्गार की अनुभूति में) उपयोगी (आवश्यक) होता है। यह (अर्थात् यदि सामाजिक में रति–वासना न हो तो शृङ्गारप्रधान काव्य या नाटकादि से भी उसको रसानुभूति नहीं होगी)। सामाजिक आदि को तो कवि के द्वारा प्रस्तुत किए गए उद्दीपन विभावादि विषय के सौन्दर्य के संकल्प अर्थात् मानसिक भावना के द्वारा अनुभव करने से उसमें वास्तविक रति नहीं रहती है। परन्तु अनुकार्य राम–सीतादि दम्पति तथा सामाजिक दोनों के तादात्म्य (अन्योन्यनिमज्जन) रूप अभेद जो मीलन कहा जाता है, से परम भोग अर्थात् रसास्वाद होता है। अनुभूति (संवित्) के ही प्रधान होने से अनुभूति या 'सेवित्' ही परम भोग रूप है। संवित् अर्थात् अनुभूति के अतिरिक्त अन्य जड़ों के भोग्य होने से अनुभूति ही वस्तुतः रस रूप है।

उपरोक्त संदर्भ में अभिनवगुप्तपादाचार्य ने अभिनवभारती में इस प्रकार कहा है ... एतदुक्त भवति–रति क्रीडा सा च परमार्थत कामिनोरेव, तत्रैव सुखस्य धाराविश्रान्ते। अपरस्य ऋतु–माल्यादिविषयसौन्दर्यस्य कविना कृतस्य सङ्कल्पसंवेदनात्। द्वितयान्योन्यनिमज्जनात्मकमीलनाख्यो हि परमो भोग। संविद एव। प्रधानत्वात्, अन्यस्य तु जडस्य भोग्यत्वात्।

अभिनवगुप्तपादाचार्य आगे कहते हैं की– यह सारी रति एक ही है। जहाँ एक दूसरे के ज्ञान के द्वारा परस्पर तादात्म्य साधारणीकरण के द्वारा एकवियोग

अर्थात् परस्पर भेद नहीं होता है, उन अनुकार्य तथा सामाजिक मे रहने वाली रति एक ही होती है। ... अत एवोत्तमयुवप्रकृति। उत्तमश्च उत्तमा च उत्तमौ। एव युवानौ। अत्रोत्तमयुवशब्देन तत्संविदुच्यते, न तु काय। चैतन्यस्यैव हि परमार्थतः उत्तमयुवत्व विशेष। स चावस्थावान्, तत्र–तत्र व्यवहारस्य भूतत्वात् तत्प्रकृति। सा संविदास्वादयोग्यत्वात् शृङ्गाररसो भवति। अनुत्तमत्वे तु न दार्ढय, अयुवत्वे चेति। न सा रतिसंविद्वियोगस्य सम्भावनात्। अवियुक्तसंवित्प्राणस्तु शृङ्गार।

अर्थात्– इसीलिए रस को उत्तमयुवप्रकृति (अर्थात् परस्परानुरक्त युवक–दम्पति–विषयक) कहा है। (उत्तमयुवप्रकृति शब्द का अर्थ) उत्तम पुरुष तथा उत्तमा स्त्री दोनो मिल कर दो उत्तम हुए। इसी प्रकार एक युवक पुरुष और एक युवती स्त्री मिल कर दो युवक ('युवानौ' हुए)। इस प्रकार 'उत्तमश्च उत्तमा च उत्तमौ' और 'युवा च युवती च युवानौ' इस प्रकार द्वन्द्व–समास में एक शेष होकर 'उत्तमौ च तौ युवानौ प्रकृतिर्यस्य' इस प्रकार का समास होकर 'उत्तमयुवप्रकृति', शब्द बनता है। उससे उत्तम युवक तथा उत्तम युवति दोनों का ग्रहण होता है। यहाँ उत्तम युव शब्द से उन दोनो की संवेदन शक्ति का ग्रहण होता है न कि शरीर का क्योंकि 'वस्तुतः उत्तमत्व रूप विशेष धर्म चैतन्य (संवित) का है। और वह (यौवनकाल का) अवस्थावान् (अर्थात् नवयौवनयुक्त काय) शरीर सर्वत्र (तत्र–तत्र यौवन के शरीर मे ही युवक) व्यवहार के होने से उस (रति) का कारण (उत्तम युवक) होता है। और वह (उत्तम युवक–युवति की रति) संवित (अनुभूति) आस्वादयोग्य होने से शृङ्गाररस बन जाती है। (स्त्री–पुरुष के) उत्तम न होने पर वह रति स्थिर नहीं होती है (दोनो क्षणिक सुखभोग के बाद एक दूसरे को छोड़ देते हैं)। इसी प्रकार युवक न होने पर भी (रति स्थिर नहीं होती है) इसलिए (अनुत्तम अथवा अयुवक स्त्री–पुरुषों की) वह (क्षणिक आवेश की स्थिति) रतिसंवित् नहीं कहलाती है। (उन दोनों में शीघ्र ही) वियोग की सम्भावना होने से। **(इसलिए अनुत्तम, अथवा अयुवक स्त्री–पुरुषों के क्षणिक कामावेश को रति या शृङ्गार नहीं कहते हैं क्योंकि) रति की सतत्**

रहने वाली (चिरस्थायिनी प्रतीति ही श्रृङ्गार–रस का प्राण है।) (पृ. 542, षष्ठोऽध्यायः, अभिनवभारती, हिन्दी टीका, डॉ. नगेन्द्र)

रस वर्ण और उनके देवता

अभिनवभारती कारिका (35–36) (पृ. 532–539) षष्ठोध्यायः, में भरतमुनि का रसों के वर्णों का और उनके देवता का निरूपण उद्धृत हे, वे वहाँ कहते हैं की–

भरत. – अथ वर्णा–

भरत. – श्यामो भवति श्रृङ्गार सितो हास्य प्रकीर्तितः।
कपोतः करुणश्चैव रक्तो रौद्र प्रकीर्तित।।35।।

भरत. – गौरो वीरस्तु विज्ञेय कृष्णश्चैव भयानकः।
नीलवर्णस्तु वीभत्सः पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः।।36।।

वर्णाभिवान पूजादौ ध्याने उपयोगि। मुखरागेऽपीत्यन्ये। ''स्वच्छ–पीतौ शमाद्भुतौ'' इति शान्तवादिना पाठ।।35–36।।

भरत. – अथ दैवतानि–

भरत. – श्रृङ्गारो विष्णुदैवत्यो हास्य प्रमथदैवत।
रौद्रो रुद्राध्दिवत्यः करुणो यमदैवत।।37।।

तत्तद्रससिद्धौ सा सा देवता पूज्येति देवतानिरूपणम्। विष्णु कामदेव। प्रमथा भगवतो गणा क्रीडापरा। रूद्रस्त्रैलोक्यसंहारकर्ता। अत एव चोदयति यमम्। यमेन बधादिके सम्पादिते करुण।।37।।

अर्थात् भरत.– श्रृङ्गार रस श्याम–वर्ण का होता है। हास्य रस श्वेत माना जाता है। करूण रस कपोत–वर्ण (कबूतर के से रंग का) और रौद्र रस लाल रग का कहा गया है।।35।।

भरत. – वीर–रस गौर (वर्ण का), और भयानक रस कृष्ण–वर्ण का समझना चाहिए। वीभत्स–रस नील–वर्ण का और अद्भुत–रस पीले रंग का माना गया है।।36।।

अभिनवगुप्तपादाचार्य अभिनवभारती (अभिनव॰) में उपरोक्त कारिकाओं की व्याख्या करते हुए कहते हैं की–

अभिनव. – (इस प्रकार रसों के) रंगों का कथन (उनकी) पूजा आदि के अवसर पर उनके ध्यान (करने) में उपयोगी होता है। दूसरे व्याख्याकारों के मत में (उस–उस रसके अभिनय के समय तदनुरूप) मुख के राग (रंग ने) में भी (उपयोगी होता है। इसमें शान्त–रस का वर्ण नहीं दिखलाया गया है इसलिए जो लोग शान्तरस को भी मानते हैं उनके मत में 43वीं कारिका के अन्तिम चरण में 'पीतश्चैवाद्भुत स्मृत' के स्थान पर) 'स्वच्छ–पीतौ शमाद्भुतौ' इस प्रकार का शान्तरस मानने वालों का (अभिमत) पाठ है। (उसके अनुसार शान्त रस का वर्ण पीत माना जाता है)।।35–36।।

देवता निरूपण–

भरत. – अब देवताओं का वर्णन करते हैं।

भरत.– शृङ्गार रस का देवता विष्णु (कामदेव) है, (शिवजी के) गण हास्य के देवता हैं। रौद्ररस का आधिष्ठातृदेव रूद्र, और करूण का देवता यम है।।37।।

यहाँ अभिनवगुप्तपादाचार्य अभिनवभारती में कहते हैं की;

अभिनव. – उस–उस रस की सिद्धि के लिए उस–उस देवता की पूजा करनी चाहिए इसको बताने केलिए देवताओं का निरुपण किया गया है। उपरोक्त कारिका में आए हुए विष्णु (का अर्थ यहाँ) कामदेव है। (वह कामदेव रूप विष्णु श्रृंगार रस का देवता हैं)। प्रमथ (पद से शिव) भगवान के, क्रीडा करने वाले गण (गृहीत होते) हैं। (वे हास्य रस के देवता हैं)। रूद्र तीनों लोकों का संहार करने वाले हैं। (वे ही रौद्र रस के देवता है। वे त्रैलोक्य के संहार कर्ता हैं) इसलिए वे ही यमराज को (प्राणियों के वध आदि केलिए) प्रेरित करते हैं। (उन रूद्र की प्रेरणा से) यम के द्वारा वध आदि के सम्पादित हो जाने पर करुण रस (उत्पन्न) होता है (इसलिए करूण रस के देवता यमराज हैं)।।37।।

आगे भरतमुनि कहते हैं–

भरत. – वीभत्सस्य महाकाल कालदेवो भयानक।
वीरो महेन्द्रदेव स्याददद्भुतो ब्रह्मदैवतः।।38।।

महाकालोऽधिदैवतमिति शेष। स हि तदिभाव कङ्काल–श्मशानादि सेवते। महेन्द्रस्त्रैलोक्यराज। ब्रह्मा अचिन्त्याद्भुतस्रष्टा।। 'बुद्ध शान्तेऽब्जजोऽद्भुतै' इति शान्तवादिन केचित् पठन्ति। बुद्धौ जिन परोपकारैकपर प्रबुद्धो वा।।38।।

अर्थात् भरत. – वीभत्स रस का देवता महाकाल और भयानक रस का देवता काल देव है। वीररस का महेन्द्र देवता है ओर अद्भुत रस का देवता ब्रह्मा है।38।।

अभिनव.– वीभत्स रस के महाकाल अधिष्ठातृदेव हैं यह शेष समझना चाहिए। क्योंकि वह (महाकाल रूप शिव) ही उस (वीभत्सरस) के विभाव कङ्काल, श्मशान आदि का सेवन करता है। (भयानक के विभाव भी वीभत्सरस के समान होते हैं इसलिए उसका देवता कालदेव को बतलाया है। वीर रस का देवता महेन्द्र को माना गया है उस महेन्द्र शब्द से) महेन्द्र अर्थात् त्रैलोक्य के राजा का ग्रहण होता है। (अद्भुत रस का देवता ब्रह्मा को बताया है क्योंकि) ब्रह्मा अचिन्त्य (जिसकी मनुष्य कल्पना भी नहीं कर सकता है इस प्रकार के) आश्चर्यजनक पदार्थों का रचयिता होता है। इन रस–देवताओं में भी शान्त रस के देवता का उल्लेख नहीं हुआ है, और अभिनव. के अनुसार, कुछ शान्त रस को माननेवाले 'स्याददद्भुतो ब्रह्मदैवत' इसके स्थान पर 'बुद्धः शान्तेऽब्जजोऽद्भुते' इस प्रकार का पाठ मानते हैं। (उनके मत में) बुद्ध अर्थात् परोपकार में ही लगे रहने वाले अथवा ज्ञानी (बुद्धदेव शान्तरस के देवता हैं। 'और अब्जज' अर्थात् कमलयोनि ब्रह्मा अद्भुत रस के अधिष्ठातृ–देव माने जाते हैं)।।38।।

इस प्रकार इन रसों की उत्पत्ति, वर्ण तथा देवताओं की व्याख्या यहाँ की गई है।

शाङ्र्गदेवकृत संगीतरत्नाकर ('सरस्वती' व्याख्या और अनुवादसहित) व्याख्या और अनुवादकर्त्री सुभद्रा चौधरी जी ने (राधा पब्लिकेशन्स नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2023, सप्तमो नर्तनाध्याय, की भूमिका में पृष्ठ (9–11), में कहा है की– शाङ्र्गदेव ने 'नर्तन' शब्द का प्रयोग किया है और उसके तीन भेद नृत्त, नृत्य और नाट्य कहे हैं। नृत वह प्रकार है, जिसमें मुख्य रूप से लय–ताल के अनुसार केवल आंगिक

क्रियाओं गात्रविक्षेप के द्वारा उमंग, उत्साह, उल्लास की अभिव्यक्ति होती है। नृत्य में केवल भावों की अभिव्यक्ति और नाट्य में रसाभिव्यक्ति प्रधान होती है। इस प्रकार ग्रंथाकार ने नृत्त, नृत्य और नाट्य तीनों का समावेश एक 'नर्तन' शब्द में किया है। नृत्त और नृत्य दो प्रकार का कहा है– ताण्डव और लास्य। शंकर के प्रमुख गण तण्डु के द्वारा लोक में प्रतिष्ठित होने का क्रम शुरू होने से ताण्डव कहलाया जो प्रायः उद्धत था। पार्वती के द्वारा प्रादुर्भूत तथा बाणासुर की पुत्री उषा के द्वारा लोक में प्रवर्तित होने वाला नृत्य लास्य कहलाया जो सुकुमार था।

चार वेदों से तत्त्व ग्रहण करने के आधार पर नाट्यशास्त्र नाट्यवेद कहलाया। अभिनय की प्रधानता से भी इसे नाट्यवेद कहा गया और गीत की प्रधानता की दृष्टि से इसे गांधर्ववेद भी कहा गया। नाट्य के संदर्भ में रस की चर्चा करते हुए चतुर्विध अभिनय–आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य का लक्षण भी दिया है। चार प्रकार के अभिनय को दो प्रकार की इतिकर्तव्यता (कैसे करना) कही है– लोकधर्मी और नाट्यधर्मी। जो अभिनय लोक की रीति के अनुरूप हो वह लोकधर्मी और जो नाट्य के लिए अपेक्षित रीति के अनुसार हो वह नाट्यधर्मी कहा जाता है। आंगिक अभिनय तीन प्रकार का कहा है– शाखा, अंकुर और सूची। हाथ की विविध प्रकार की मनोहर वर्तना (क्रिया) शाखा है। भूतवाक्य (बीते हुए वाक्य) के आश्रय से प्रवृत्त होने वाल अंकुर है और भावी वाक्य (आगे कहे जाने वाले वाक्य) के आश्रित हस्तक्रिया सूची होती है। नृत्त के तीन प्रकार हैं– विषम, विकट और लघु। रस्सी पर चलना आदि विषम है, विरुप वेश और अंगों की क्रियाओं से विकट होता है और सीमित करणों वाला लघु माना जाता है। **नर्तन में 'करण' शब्द कई अर्थों में प्रयोग में आता है, जैसे हस्तकरण, नृत्तकरण या करण, चारी का भेदरूप करण। (सभी में करण का सामान्य अर्थ क्रिया है।)** हस्तकरण में करण का तात्पर्य वर्तना से है, यानी एक करण से दूसरे करण में जाने का ढंग। नृत्तकरण में करण यानी हाथ पैर की सम्मलित क्रिया। चारी यानी पैर, टाँग, जाँघ और कमर की

एक साथ होने वाली विचित्र क्रिया। लेकिन चारी के भेदरूप करण में पादक्रिया प्रधान है। वह भेदरूप करण नृत्तकरण से अलग है और केवल पादक्रिया से होता है। शाङ्र्गदेव के अनुसार बाँहों के करणों का अकेले–अकेले या मिश्रण करके विभिन्न लयों के द्वारा योजना करने से हजारों वर्तन हो सकती हैं। हर प्रयोक्ता का एक करण से दूसरे करण में जाने का ढंग अलग हो सकता है और तदनुरूप हजारों वर्तना हो सकती हैं।

नाट्य में लौकिक अनुभव से विलक्षणता यह है कि दुःखात्मक भाव भी आनन्दात्मक हो जाते हैं। अभिनवगुप्ताचार्य ने कहा है– 'सामाजिकानां हि हर्षेकफलं नाट्यं न शोकादि फलं (नाट्यशास्त्र, 6 अभिनवभारती, पृ. 289)। नाट्य में लोक का अनुकरण, अनुदर्शन, अनुकीर्तन सामान्य जीवन से भिन्न अनुभव होता है। ऐसे अनुभव आस्वाद के लिए यह आवश्यक है कि प्रेक्षक निजसुखदुःख की विवशता यानी उस समय अपने लौकिक सुखदुःखों से मुक्त हो ताकि जो देखे उसके साथ 'तादात्म्य' हो सके। (जो कुछ देख–सुन रहा है उसी स्वरूप का हो जाए)। अभिनवगुप्तपादाचार्य ने कहा है कि 'पानक' (पीने वाले) रस में कई पदार्थों का मिश्रण होता है लेकिन पीते समय सबका अलग–अलग स्वाद नहीं बल्कि मिला–जुला एक नया, विलक्षण स्वाद होता है। रसानुभूति में भी अनेक भावों के मिश्रण से अपूर्व आनंद होता है जो मन का व्यापार है जिसमें विभाव, अनुभाव, संचारी का संयोग होकर रस अनुभूति होती है। लेकिन आस्वादन रसानुभूति में रसना व्यापार नहीं, मानस व्यापार है और वह अविकल (अखंड) है; स्व–पर के विवेक से शून्य स्वाद है (पृ. 10–12)। नाट्यशास्त्र में रससूत्र पर दृष्टांत दिया गया है कि जैसे गुड़ आदि द्रव्यों, व्यंजनों, औषधियों के संयोग से, इनके संस्कार से, 'पाक' (आग पर पकाने) से तैयार हुए व्यंजन का 'सुमनस' (अच्छे मन वाला) पुरुष चर्वणा के द्वारा रस ग्रहण करता है उसी तरह वाक् (वाणी), अंग और सत्त्व (मन) से युक्त अनेक भावों के संयोग से स्थायी भाव रस बन कर अच्छे मन वाले पुरुष के द्वारा अनुभूत होता है।

संगीतरत्नाकर के सातवें नर्तनाध्याय में शृङ्गार रस की दस अवस्थाएँ इस प्रकार बताई गई हैं–

(शृङ्गारस्य दशावस्थाः)

कामशास्त्रे च शृङ्गारो दशावस्थः प्रकीर्तितः।।

अभिलाषस्ततश्चिन्तानुस्मृतिर्गुणकीर्तनम्।

उद्वेगोऽथ विलापः स्यादुन्मादो व्याधिसंभवः।।

जड़ता मरणं चेति दशावस्थाः प्रकीर्तिताः।

अर्थात् – कामशास्त्र में शृङ्गार रस दस अवस्था वाला कहा गया है। अभिलाष, चिन्ता, अनुस्मृति (स्मरण), गुणकीर्तन, उद्वेग, विलाप, उन्माद, व्याधिसंभव, जड़ता (और) मरण ये दस अवस्थाएँ कही गई हैं। कामशास्त्र से आशय वात्स्यायन का कामसूत्र है। ये दस कामदशायें विप्रलम्भ शृङ्गार (वियोग) में होती हैं।

भोक्ता प्रधानो भोग्या तु कान्ता तदुपसर्जनम्।।

अतो नरान्तरासक्तिस्तस्याः शृङ्गारभङ्गकृत्।

भोक्तुस्त्वपरतन्त्रत्वात्कान्तान्तरमभञ्जकम्।।

वाङ्नेपथ्याङ्गचेष्टाभिः शृङ्गारस्त्रिविधो मतः।

रामादित्यञ्जको वेषो नटे नेपथ्यमिष्यते।।

शृङ्गार रस में भोक्ता प्रधान होता है कान्ता तो भोग्या होती है इसलिये उसका उपसर्जन अर्थात् गौण स्थान है। अतः इसलिये उसकी दूसरे पुरुष में आसक्ति शृङ्गार रस का भंग करती है। लेकिन भोक्ता का अ–परतन्त्रत्वात् अर्थात् परतंत्रत्व न होने से (अर्थात् स्वतन्त्र होने) से दूसरी कान्ता में (उसकी आसक्ति शृङ्गार रस की) भंजक नहीं है।

वाणी, नेपथ्य (वेशभूषा) और आंगिक चेष्टाओं से शृङ्गार रस तीन प्रकार का माना गया है। नट में राम आदि का व्यंजक वेष नेपथ्य माना जाता है।

संगीतरत्नाकर की 'सरस्वती' व्याख्या के अनुसार कल्लिनाथ ने व्याख्या की है कि स्त्री–पुरुष का परस्पर आलंबन होना अविशेष है। फिर भी प्रधानता–गौणता

से विषमता होती है। **(स्त्री गौण होने से उसकी परपुरुष में आसक्ति से रसाभास होता है लेकिन पुरुष स्वतन्त्र होता है इसलिये परस्त्री में उसकी आसक्ति से रसाभास नहीं होता।** (पृ. 364, 365)

साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद में श्लोक संख्या (10–11), पृ. (70, 74, 77–78), में कहा गया है की–

उत्साहादिसमुद्बोधः साधारणयाभिमानतः।

नृणामपि समुद्रादिलङ्घनादौ न दुष्यति।।11।।

रत्यादयोऽपि साधारणयेनैव प्रतीयन्त इत्याह–

साधारणयेन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते।

अर्थात् – अल्पशक्ति मनुष्यमात्र को समुद्रलंघन जैसे दुष्कर कार्य में कैसे उत्साह होता है, यह कहते हैं– हनुमानादि के साथ साधारणयाभिमान अर्थात् अभेदज्ञान के हो जाने पर मनुष्यों का भी समुद्रलंघनादि में उत्साहित होना दूषित नहीं है। शृङ्गारादि रसों के स्थायी भाव रति आदिक भी काव्य नाटयादि में सामान्यरूप से प्रतीत होते हैं। ''रामचन्द्र का सीता में अनुराग है'' अथवा ''मेरा इस नायिका में अनुराग है'' इत्यादि विशेषरूप से प्रतीत नहीं होते। यदि रङ्गस्थल में बैठे सभ्यों को अपने में विशेष रूप से रत्यादि का ज्ञान हो तो लज्जा, भय आदि उत्पन्न हो जायें और यदि रामादि अन्यपुरुषगत रति आदि का विशेषरूप से ज्ञान होता हो तो जैसे लोक में दूसरों का रहस्यदर्शन अरसनीय होता है इसी प्रकार काव्य नाट्य के रस भी अरस्य हो जायें। इसलिए रत्यादिक साधारणता से ही प्रतीत होते हैं। विभावादिक भी पहले साधारणतया प्रतीत होते हैं। रत्यादि को आस्वादोत्पत्ति (रसोद्बोध) के योग्य बनाना 'विभावन' कहलाता है। और विभावन के द्वारा आस्वादोत्पत्ति के योग्य हुए उस रत्यादि को तुरन्त ही रसरूप में परिणत कर देनेवाले व्यापार का नाम 'अनुभावन' है। एवम्, इस प्रकार सुसम्पन्न रत्यादि को भले प्रकार सञ्चारित कर देने का नाम 'सञ्चारण' है। ये ही क्रम से तीनों विभाव,

अनुभाव और सञ्चारीभावों के व्यापार हैं। विभाव, अनुभाव, सात्त्विक तथा संचारीभाव पहले खण्डशः प्रतीयमान होते हैं और फिर अखण्ड रसरूप को प्राप्त होते हैं। वास्तव में रस, वेदान्तप्रसिद्ध ब्रह्म की तरह, अखण्ड ही है। रस की अनुभूति में अनुभाव, विभाव और सञ्चारी भाव ये तीन लोक में क्रम के अनुसार कार्य, कारण और सहकारी माने गये हैं, तो भी वस्तुतः ये समष्टिरूप में कारण ही माने गये हैं। लोक में संश्रय (स्वभाव) से शोक हर्षादि के कारणरूप से प्रसिद्ध, वनवासादि से लोक में लौकिक शोक आदि भले ही पैदा हुआ करें, परन्तु काव्य से सम्बन्ध (संश्रय) होने पर वे कारण अलौकिक विभाव कहलाते हैं। रस की निष्पत्ति के कारण (विभाव) के दो भेद हैं– आलंबन और उद्दीपन। यहाँ आलम्बन वह है जिस पर रस आश्रित रहता है, वह पुरुष या वस्तु जिसके उल्लेख से रस की निष्पत्ति होती है। उद्दीपन विभाव वह हैं जो रस को उद्दीपित करते हैं। जैसे आलम्बन् विभाव नायक आदि होते हैं, क्योंकि उन्हीं का आश्रय लेकर रस की निष्पत्ति होती है। यहाँ 'आदि' पद से शृङ्गाररस में सीता आदि नायिकाओं का ग्रहण होता है। (पृ. 91)

जो रस को उद्दीपित करते है। वे उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। जैसे नायक, नायिका, प्रतिनायक प्रभृति की चेष्टा और उपयुक्त देश कालादिक ये सब उद्दीपक होने से उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। (पृ. 129)।

आगे अनुभाव का लक्षण कहा गया है। सीता आदि आलम्बन तथा चन्द्रादि उद्दीपन कारणों से रामादि के हृदय में उद्‌बुद्ध रत्यादि को बाहर प्रकाशित करनेवाला, लोक में जो रति का कार्य कहलाता है, वही काव्य और नाट्‌य में अनुभाव कहलाता है। स्त्रियों के अलङ्कार एवं सात्त्विकभाव और रत्यादि से उत्पन्न अन्य चेष्टायें अनुभाव कहलाती हैं। (पृ. 129)

आगे तत्र सात्त्विकाः–

विकाराः सत्त्वसंभूताः सात्त्विकाः परिकीर्तिताः।।134।।

अर्थात् – सत्त्व गुण से उत्पन्न विकार सात्त्विक कहलाते हैं। आत्मा में विश्रान्त होनेवाले रस का प्रकाशक, अन्तःकरण का विशेष धर्म 'सत्त्व' कहलाता है।

सात्त्विक, यद्यपि रत्यादि के कार्य होने के कारण, अनुभाव ही हैं, तथापि केवल सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण 'गोबलीवर्द' न्याय से वे अन्य अनुभावों से भिन्न भी कहे जा सकते हैं। जैसे लोक में 'गावः समागताः बलीवर्दोऽपि समागतः' ये दोनों वाक्य बोले जाते हैं। यहाँ यद्यपि 'गो' पद से बिजार (साँड़) का भी ग्रहण हो सकता है, अतः दूसरा वाक्य बोलना अत्यावश्यक नहीं, तथापि गौओं की अपेक्षा प्रधानता सूचन करने के लिये उसको पृथक् कहा जाता है। इसी प्रकार जो वस्तु अन्तर्गत होने पर भी किसी विशेष गुण के कारण पृथक् कही जाय वहाँ यह 'न्याय' संगत होता है (पृ. 130)। आगे साहित्यदर्पण के इस तृतीय परिच्छेदः में ही पृ. 131 पर कहा गया है–

अथ व्यभिचारिणः–

विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः।

स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशञ्च तद्भिदाः।।140।।

अर्थात्– स्थिरता से विद्यमान रत्यादि स्थायीभाव में उन्मग्न–निर्मग्न अर्थात् आविर्भूत–तिरोभूत होकर निर्वेदादिभाव अनुकूलता से व्याप्त होते हैं। अतएव विशेष रीति से आभिमुख्यचरण के कारण इन्हें–'व्यभिचारी' कहते हैं। ये संख्या में तैंतीस होते हैं, इनको संचारी भाव भी कहते हैं (पृ. 131)।

आगे रति के विषय में इसी ग्रन्थ में कहा गया है की – रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्। अर्थात्– प्रिय वस्तु में मन के प्रेमपूर्ण उन्मुखीभाव का नाम 'रति' है।

कामदेव के उद्भेद (अंकुरित होने) को 'शृङ्ग' कहते हैं उसकी उत्पत्ति का कारण, अधिकांश उत्तम प्रकृति से युक्त रस 'शृङ्गार' कहलाता है। परस्त्री तथा अनुरागशून्य वेश्या को छोड़कर अन्य नायिकायें तथा दक्षिण आदि नायक इस रस के 'आलम्बन' विभाव माने जाते हैं। चन्द्रमा, चन्दन, भ्रमर आदि इसके 'उद्दीपन' विभाव होते हैं। अनुरागपूर्ण भृकुटिभङ्ग और कटाक्ष आदि इसके अनुभाव होते हैं। उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा को छोड़कर अन्य निर्वेदादि इसके संचारीभाव

होते हैं। इसका स्थायीभाव 'रति' है और वर्ण श्याम है एवं देवता इसके विष्णु भगवान् हैं। (पृ. 145–146)

आगे ग्रन्थाकार कहते हैं की–

तत्र स्यादृतुषट्कं चन्द्रादित्यौ तथोदयास्तमयः।

जलकेलिवनविहारप्रभातमधुपानयामिनीप्रभृतिः।।212।।

अनुलेपनभूषाद्या वाच्यं शुचिमेध्यमन्यञ्च।

तथा च भरतः – 'यत्किंचिल्लोके शुचि मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तत्सर्वं शृङ्गारेणोपमीयते (उपयुज्यते च)' इति।

अर्थात्– छहों ऋतुओं का वर्णन, सूर्य और चन्द्रमा का वर्णन, उदय और अस्त का वर्णन एवं जलविहार, वनविहार, प्रभात, मद्यपान, रात्रिक्रीडा, चन्दनादिलेपन, भूषणधारण तथा और जो कुछ स्वच्छ उज्जवल, ग्राह्य वस्तु हैं उन सबका वर्णन शृङ्गाररस में होता है। यहीं भरत मुनि ने कहा है – यद्यपि शृङ्गार के अवान्तर भेद असंख्य हैं, तथापि पूर्वराग, मान, प्रवास और ईर्ष्या इनके आनन्तर्य के कारण यह चार प्रकार का होता है। जिस प्रकार कषायित करने के पीछे रंग में स्वच्छता आ जाती है– इसी प्रकार मान, ईर्ष्या, प्रवास आदि जन्य वियोग के पीछे सम्भोग शृङ्गार में भी चमत्कार विशेष आ जाता है। यहाँ कषायित का अर्थ है प्रधान रंग में रंगने के पहले किसी दूसरी चीज में, जो उस रंग के अनुकूल हो, कपड़े के रँगने की चाल है। पूर्वराग के अनन्तर सम्भोग का उदाहरण जैसे कुमारसम्भव में शिव पार्वती का। (पृ. 157–158)। पृ. 69 में ग्रन्थाकार कहते हैं की – अन्तःकरण में रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण के सुन्दर स्वच्छ प्रकाश होने से रस का साक्षात्कार होता है। अखण्ड, अद्वितीय, स्वयं प्रकाशस्वरूप आनन्दमय और चिन्मय (चमत्कारमय) यह रस का स्वरूप (लक्षण) है। रस के साक्षात्कार के समय दूसरे वेद्य (विषय) का स्पर्श तक नहीं होता। अतएव वह ब्रह्मास्वाद (समाधि) के समान होता है। यहाँ 'ब्रह्मास्वाद' पद से सवितर्क समाधि– जिसमें आनन्द अस्मिता आदि

आलम्बन रहते हैं– अभीष्ट है। निरालम्बन निर्वितर्क समाधि की समता इसमें नहीं है। क्योंकि रसास्वाद में विभावादि आलम्बन रहते हैं।

विज्ञानरूप आत्मा से अभिन्न रस की प्रतीति होती है। विस्मय नामक चित्त का विस्तार (विकास) चमत्कार कहलाता है। रस में यही चमत्कार प्राणरूप होता है। यहाँ यह भी कहा गया है की– रसावस्थः, रसाऽवस्थ इति। रस एव अवस्था (स्थितिः) यस्य सः, एतादृशः भावः =रत्यादिः स्थायितां = स्थायिभावं प्राप्नोति अर्थात्– रस की अवस्था (=स्थिति) को प्राप्त भाव ही स्थायीभाव होता है, अन्य नहीं।

यद्यपि काव्यार्थ (विभाव आदि) परिशीलन से अपने में आनन्द की उत्पत्ति को ''स्वाद'' कहते हैं ऐसी उक्ति के अनुसार रस आस्वाद से अतिरिक्त नहीं हैं (यह आस्वादन ही चर्वणा कही जाती है)। अर्थात् यह आस्वाद स्वरूप ही है तथाऽपि ''रसः स्वाद्यते'' अर्थात् रस आस्वादन किया जाता है ऐसा काल्पनिक भेद को स्वीकार कर वा कर्मकर्ता में रसः स्वाद्यते = स्वयमेव आस्वाद्यते अर्थात् रस स्वयम् ही आस्वादित होता है ऐसा प्रयोग होता है। रस में रस्यमानता (आस्वाद्यमानता) मात्र सार होने से रस प्रकाश शरीर अर्थात् ज्ञानस्वरूप से अन्य (भिन्न) नहीं है। अर्थात् ज्ञानस्वरूप है। रति आदि की वासना (संस्कारविशेष) के बिना रस का आस्वाद नहीं होता। और वह वासना इस जन्म की तथा पूर्व जन्म की दोनों मिलकर रसास्वाद कराती है।

कालिदास के मालविकाग्निमित्र के द्वितीय अङ्क में आये कुछ श्लोक नृत्यकाल में नृत्यांग्ना का अङ्गस्थापन और आङ्गिक अभिनय का अति रमणीय प्रस्तुतीकरण करते हैं। ये श्लोक 'द्वात्रिंशत्पुत्तलिका–सिंहासनम्' ग्रन्थ में भी मामूली पाठ–परिवर्तन के साथ मिलते हैं।

श्लोक इस प्रकार हैं–

दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्ति वदनं बाहू नतावंसयोः,

संक्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव।

मध्यः पाणिमितोऽमितं च जघनं पादावरालाङ्गुली,

छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसि श्लिष्टं तथास्या वपुः।।3।।

अर्थात्– नृत्यकाल में इस नृत्यांग्ना का अङ्गस्थापन इस प्रकार हैः इसकी आँखें बड़ी हैं, मुख की कान्ति शरत्कालीन चन्द्रमा की तरह प्रसन्न है, कन्धों से बाँहें झुकी हैं, इसका वक्षःस्थल यद्यपि विशाल है फिर भी ऊँचे स्तनों के बीच कोई अवकाश न होने के नाते सङ्कुचित हैं, (अथवा नीचे की ओर संश्लिष्ट और उठे हुए स्तनों वाली इसीलिए संक्षिप्तम = कसी हुई, ठोस स्तनों वाली) यहाँ पण्डित श्री रामचन्द्र मिश्र जी ने इस नाटक की अपनी टीका में पृ. 59 पर कहा है; (उरो वक्षःस्थलं निविडौ परस्पर श्लिष्टौ उन्नतौ च स्तनौ यत्र तत् तथोक्तम् (अवापि) संक्षिप्तम् संकोचशालि, नृत्यसमये नर्त्तकीभिर्वक्षसः संकोचनस्यावश्यकत्वात्। पार्श्वे उदरपार्श्वभागौ प्रमृष्टे (केनापि शिल्पिना) पाणिना परिमार्जिते इव,...) इसके पार्श्व–प्रदेश फैले हुए हैं, (अथवा पार्श्व किसी शिल्पी के द्वारा परिमार्जितप्राय हैं = चिकने हैं), इसका जघन–प्रदेश विशाल है, दोनों पैर कुछ टेढ़ी, कुछ नीचे की ओर झुकी हुई अँगुलियों वाले हैं, (पादौ अरालाः = वक्राः, संकुचिताः; अङ्गुलयो ययोः तथाभूतौ) मानो नचाने वाले आचार्य नाट्याचार्य गणदास के मन में जैसी इच्छा थी उसी तरह अर्थात् नृत्योपदेशक के अभिप्राय को लक्ष्य में रखकर ही इस (मालविका) का शरीर गढ़ा गया है, बनाया गया है। (अथवा पाठान्तर से–नृत्याचार्य का जैसा अभिप्राय है, उसी के अनुसार इस नर्तकी (मालविका) ने अपने शरीर को सन्नद्ध कर लिया है)। अतः तथैव प्रकारेण अस्या मालविकाया वपुः शरीरम् श्लिष्टम् शिक्षाभ्यासादिना योजितम् (स्वाभिप्रायानुवर्त्तिस्वभावं कृतमित्यर्थः) स्वभावसुन्दर्या अस्या नाटयाचार्योपदेशवशतो भावसमावेशात्समेधितं रूपमिति भावः। एतेन नृत्यारम्भः सूच्यते।

नृत्यावस्थानविशेषः स्मरणीयः,

वामं सन्धिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे

कृत्वा श्यामाविटपसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम्।
पादाङ्गष्ठाऽऽलुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं
नृत्याद् वामा स्थगयतितरां कान्तिभृत् पादयुग्मम्।।27।।

(पृ. 17, विक्रमादित्यस्य सिंहासनप्राप्तिकथा, द्वात्रिंशत्पुत्तलिकासिंहासनम्)

नृत्य की अवस्था विशेष को कहते हैं;

इसने अपने बायें हाथ को नितम्ब पर तिरछा टिका रखा है, इसलिए हाथ का कड़ा कलाई पर निःशब्द है। इसका दूसरा हाथ प्रियङ्गु–लता की तरह ढीला–ढाला नीचे छोड़ रखा है। अपनी आँखें इसने फ़र्श पर झुका रखी हैं और पैर के अंगूठ से वह फूलों को मसल रही है। नृत्य के हेतु इस सुन्दरी ने अपने पैरों को प्रयत्न–पूर्वक अत्यन्त स्थिर रखा हुआ है। (मालविकाग्निमित्र) के पाठान्तर के अनुसार– शरीर का ऊपर का आधा भाग सीधा और लम्बा ही रखा है; इसकी यह स्थिति अर्थात् इसका इस तरह खड़ा रहना तो नृत्य से भी मनोरम है।)

अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः,
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ
भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव।।8।।

नृत्य का गुण अथवा दोष कहते हैं–

अपने अंगों को वाणी देकर उनके द्वारा अर्थ अच्छी तरह बता दिया गया है; पैर लय के अनुसार ही चले; भावों के (प्रदर्शन, में तन्मयता रही; हस्त–संचालन द्वारा किया जाने वाला अभिनय मृदु था; अभिनय में परिवर्तनों के सिलसिले में (अर्थात् बदल–बदल कर उसने आंगिक अभिनय का जो क्रम बाँध दिया था) रस का एक भाव (झट) दूसरे भाव का स्थान लेता जाता था (फिर भी) राग का समाँ वही रहा। (अर्थात् संचारी भावों के बदलते रहने पर भी उनमें अनुस्यूत विप्रलम्भ शृङ्गार का सिलसिला यथावत् बना ही रहा)।।8।।

(मालविकाग्निमित्रम्, द्वितीय अङ्कः, (पृ. 115–116, मोहनदेव पंत, मोतीलाल बनारसीदास, पुनर्मुद्रण : दिल्ली, 1987)

उपसंहार

भारतीय परम्परा में रस विवेचना और अध्ययन एक अति प्राचीन विषय रहा है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से पहिले वेदों से ही हमारे यहाँ रस निष्पत्ति पर अलग–अलग रूपों में विचार प्रारम्भ होता है। रसों की संख्या आठ या नौ है, इस विषय पर भी विद्वानों ने गहन विचार किया है। प्रस्तुत आलेख में नव रसों में से शृङ्गार रस की विवेचना प्रस्तुत की गई है। संगीत, नाट्य, वाद्य और साहित्य के माध्यम से शृङ्गार रस की निष्पत्ति का अध्ययन यहाँ प्रस्तुत किया गया है। यहाँ एक ही स्थान पर इस विषय के अन्यान्य पहलुओं पर विचार किया गया है। भाशा को यथाशक्ति सरल रखा गया है, और मूल ग्रन्थों और ग्रन्थाकारों के विचार का पूर्ण आदर और श्रद्धा से उद्धृत किया गया है। निश्चय ही यह प्रस्तुतीकरण विद्वानजनों को एक महत्त्वपूर्ण आरंभिक अध्ययन के रूप में कार्य करेगा और उनके अध्ययन में भविष्य में उनको एक प्रशस्त और सदृढ़ दिशा देगा, इस आशा से ही यह महत्ती कार्य शिव–शक्ति अनुग्रह से सम्पन्न किया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ (Bibliography)

- Some Aspects of Literary Criticism in Sanskrit Or The Theories of Rasa and Dhvani, By A. Sankaran, M.A., PhD. Thesis approved for the Degree of Doctor of Philosophy in the University of Madras. Published by the University of Madras, 1929.
- भरत का संगीत–सिद्धान्त, लेखक श्री कैलाशचन्द्रदेव बृहस्पति, प्रकाशकः – उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, द्वितीय संस्करण : 1991.
- नाट्यशास्त्रम्, श्रीमदभिनवगुप्तविरचितविवृतिसमेतम्, Natyasastra, with the commentary of Abhinavagupta, Edited with a Preface, Appendix asnd Index by Manavalli Ramakrishna Kavi, M.A. In Four Volumes, 1926, Central Library Baroda.
- Natyasastra of Bharatamuni, with the commentary Abhinavabharati by Abhinavaguptacarya, Chaspters 1-7 Illustrated Vol. I, Edited by M. Ramakrishna Kavi, M.A. Revised and Critically edited with Preface and Appendices by K.S. Ramaswami Sastri, Siromani. Second Edition, 1956, Orietnal Institute, Baroda.
- नाट्य–मनोरमा, रघुनाथरथश्च–विरचिता, प्रथम संस्करणम्, 1959, ओड़िशा साहित्य एकाडेमीपक्षतः प्रकाशिता। The Natyamanorama is a treatise on the science of music and the present text is based on a palm-leaf manuscript preserved in the Orissa State Museum, Bhubaneswar. The author of this work is, Raghunatha Ratha, who composed this work under the patronage of King Nilakantha of Kerala, around 1702 A.D.
- उज्ज्वलनीलमणिः, श्रीलरूपगोस्वामिना प्रणीतः, श्रीलजीवगोस्वामिकृतया लोचनरोचनीनाम्न्या तथा श्रीलविश्वनाथचक्रवर्तिकृतया आनन्दचन्द्रिकानाम्न्या टीकाया च सहितः। श्रीमद्भक्तिवेदान्त– नारायण–गोस्वामि–महाराजेन अनुदितः सम्पादितश्च। प्रकाशकः श्रीभक्तिवेदान्त तीर्थ महाराज, गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन, प्रथम संस्करण; 23 अक्टूबर, 2006.
- श्रीराधासुधानिधि स्तोत्रम्, श्रीहितहरिवंश महाप्रभु विरचित, श्री मानमन्दिर सेवा

संस्थान, मथुरा (उ.प्र.), प्रथम संस्करण, प्रकाशित 23 मार्च 2021.

- काव्यप्रकाशः, श्री मम्मटाचार्य–विरचित काव्यप्रकाश की हिन्दी व्याख्या, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि, गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन, सम्पादक डॉ. नगेन्द्र, एम.ए., डी.लिट्.। प्रथम संस्करण, संवत् 2017 वि., प्रकाशक–ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 1960.
- नृत्यरत्नकोश (प्रथम भाग पूर्वार्ध), चित्रकूटदुर्गाधिपति नृपति कुम्भकर्णदेव प्रणीत, संपादक : प्रा. रसिकलाल छोटालाल परीख तथा डॉ. प्रियवाला शाहा, प्रकाशनकर्ता संचालक, राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर जयपुर (राजस्थान), फरवरी रित्रस्ताब्द 1957, ग्रन्थाङ्क 24; एवम् नृत्यरत्नकोश (द्वितीय भाग), सम्पादक : प्रा. रसिकलाल छोटालाल परीख, प्रकाशक राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान जोधपुर (राजस्थान), RORI, Jodhpur, 1968 ई., ग्रन्थाङ्क : 25.
- संगीतराजः, श्रीराजाधिराजेन्द्र – श्रीकुम्भकर्ण–विरचितः, तृतीयो वाद्यरत्नकोशः, एवम् पंचमो रसरत्नकोशः।
- संगीतराजः (नृपतिकुम्भकर्णप्रणीतः) प्रथमखण्डः, Editor; (Dr. Km.) Premlata Sharma, General Editor; Dr. V.S. Agrawala, Published by Hindu Vishvavidyalaya Sanskrit Publication Board, 1963, Part II, Text of Pathyaratnakosa (प्रथमः, पाठ्यरत्नकोशः) and Gitaratnakosa (द्वितीयो, गीतरत्नकोशः)।
- भरतकोशः, भरतादिप्रणीतनाट्यसंगीतशास्त्रग्रन्थस्थपारिभाषिकपदकोशः परिशिष्टसहितः, श्रीमानवल्लि रामकृष्णकविना समुट्टङ्कितः, Printed and published by Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd., First Edition, 1951.
- The Gita-Govinda of Jayadeva, with The Commentaries Rasikapriya of King Kumbha and Rasamanjari of Mahamahopadhyaya Shankara Mishra, Edited with various readings by Mangesh Ramkrishna Telang And

Wasudev Laxuman Pansikar, Printed and Published by Tukaram Javaji, Proprietor "Nirnaya-Sagara Press, Bombay, 1899.

- द्वात्रिंशत्पुत्तलिकासिंहासनम्, विक्रमार्कस्य राज्ञः विक्रमादित्यस्य, चरितं चरितात्मकं काव्यं विरच्यते निबध्यते।
- साहित्यदर्पणः, श्रीविश्वनाथकविराजकृतः, श्रीशालग्रामशास्त्रि विमलाख्यया हिन्दीव्याख्यया विभूषितः (द्वितीयावृत्तिः), प्रकाशक–श्रीकान्तशास्त्री श्रीमृत्युञ्जयऔषधालय, ऐबट रोड, लखनऊ, सं. 1991 विक्रमीय, मुद्रक–नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ।
- ध्वन्यालोकः, श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यविरचितः, श्रीमदभिनवगुप्त–विरचित 'लोचन' व्याख्यासहितः सम्पूर्णेन हिन्दीभाषानुवादेन तारावती समाख्यया व्याख्यया परिगतः, व्याख्यालेखकः–डॉ. रामसागर त्रिपाठी, प्रकाशकः मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण 1963 ई.।
- काव्यमय संगीत विज्ञान, सोहन लाल गुप्त एवम् भद्रसेन कुमार संगीत विशारद, संगीत प्रभाकर, प्रकाशक–शान्ति पुस्तक भण्डार कनखल, प्रथम संस्करण, 1953 ई.।
- Rasakaumudi, A work on Indian Music by SriKantha, Edited by Dr. A.N. Jani, Head of the Department of Sanskrit, M.S. University of Baroda. Published by Oriental Institute Baroda with financial help of the Sangeet Natak Akademi, New Delhi, 1959.
- SriKantha's Rasakaumudi; A Review of Salient Points Taken from Passages (culled from an unpublished text: Reproduced from Nadarupa, Vol. II, 1963); original article is titled : A critical, note on Rasakaumudi of SriKantha, 'Nadarupa', Vol. II, Jan. 1961, p. 219. Original article and review article both written by Prof. Prem Lata Sharma. Review article accessed from; Indian Aesthetics and Musicology, Vol. I, compiled articles of Prof. (Miss) Prem Lata Sharma, Edited by Dr. Km. Urmila Sharma, Page 248-

305 Published by Amnaya-Prakasana, Varanasi, India, First Edition : 2000.

- Rasa Theory and Indian Music - A Paper by Prof. Prem Lata Sharma; Paper presented, in the Seminar on Indian Music in the context of modern science' and technology'; Seminar was held before 1980. The paper was published in Sangeet Natak : Silver Jubilee Volume, Editor H.K. Ranganath, Published by : Sangeet Natak Akademi- New Delhi, 1981.
- शाङ्र्गदेवकृत संगीतरत्नाकर ('सरस्वती' व्याख्या और अनुवादसहित) व्याख्या और अनुवादकर्त्री सुभद्रा चौधरी, राधा पब्लिकेशन्स नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण–2023; सप्तमो नर्तनाध्याय।
- मालविकाग्निमित्र, महाकविकालिदासकृत, मूल, संस्कृत व्याख्या, हिन्दी टीका सहित, प्रिंसिपल मोहनदेव पंत, मोतीलाल बनारसीदास, नवीन संस्करण : दिल्ली, 1905.